आचार्य भिक्षु की अनुशासन शैली

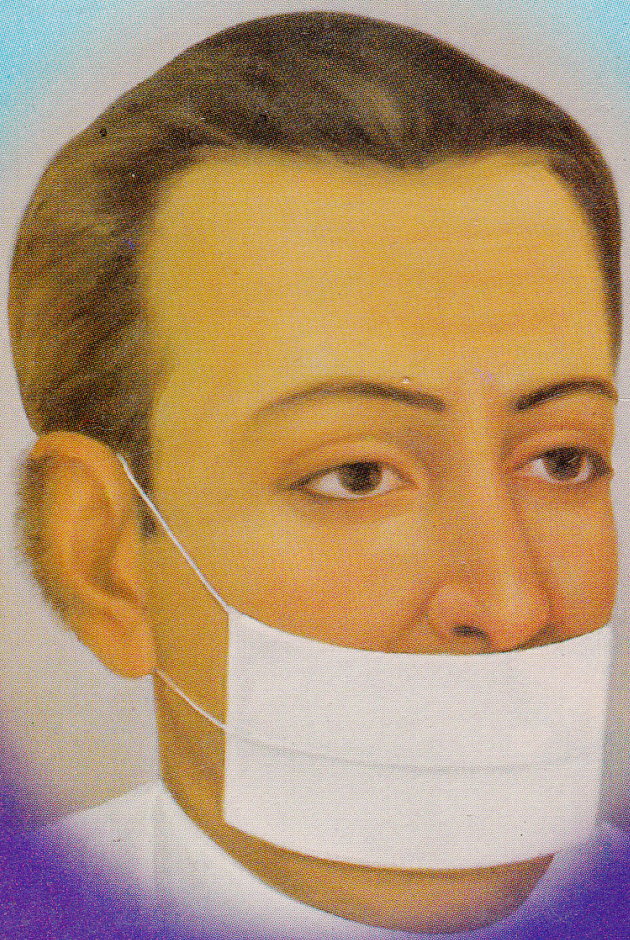

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

आचार्य भिक्षु की अनुशासन शैली

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं– 341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं : (01581) 226080,224671
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

Books are available online at
http://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं
छठा संस्करण : सितम्बर, 2017
मूल्य : पचास रुपये
मुद्रक : श्री वर्द्धमान प्रैस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

Acharya Bhikchu ki Anushshan Shelly

₹50/-

पुरोवाक्

भिक्षु निर्वाण द्विशताब्दी के अवसर पर एक योजना पर चिंतन किया गया–भिक्षु स्वामी के जीवन तथा कर्तृत्व पर प्रकाश डालने वाले कुछ बिन्दुओं को जनता के सामने प्रस्तुत किया जाए। इस योजना में अनेक ग्रंथों का चयन किया गया। उनमें कुछ पुस्तकें और कुछ पुस्तिकाएं हैं। वे समय-समय पर लिखी हुई हैं। एक शृंखला में आबद्ध होने के कारण उनका आकार पाठक के लिए अभिनव होगा।

आचार्य तुलसी का एक संक्षिप्त वक्तव्य विषय-वस्तु को समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है–'आचार्य भिक्षु ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वे धर्म-क्रांति के लिए बहुत उपयोगी हैं। धर्म के क्षेत्र में चल रहे अनेक विवादों के समाधान में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। इस दृष्टि से उनको जनता तक पहुंचाना आवश्यक, समय की मांग और धर्म-क्षेत्र की समस्या का समाधान है।'

आचार्य भिक्षु का अंतर्दृष्टि से उपजा हुआ अवदान त्रैकालिक सत्य का संबोधक है इसलिए वह आज भी बहुत प्रासंगिक है। उसके द्वारा पाठक को एक नया प्रकाश मिलेगा।

सूरत — **–आचार्य महाप्रज्ञ**

२५ अगस्त, २००३

मर्यादा और अनुशासन

दो अवधारणाएं

दो प्रकार की अवधारणाएं काम कर रही हैं। प्रथम अवधारणा मर्यादा, अनुशासन, नियम, व्यवस्था, कानून और कायदों को स्वीकार करती है। सामूहिक चेतना के क्रमिक व सुव्यवस्थित विकास के लिए इन सबको पूरा मूल्य देती है, किन्तु दूसरी अवधारणा के अनुसार हर व्यक्ति को स्वतंत्रता से जीने का अधिकार है। उसके व्यक्तिगत जीवन में किसी अन्य व्यक्ति या व्यवस्था का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

जैन दर्शन दो नयों की व्यवस्था स्वीकार करता है—निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय आत्मानुशासन के सूत्र को पकड़ कर चलता है। इस नय के अभिमत से दूसरे का अनुशासन आरोपित अनुशासन होता है। आरोपणा कल्पित होता है। उससे सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। समाज हो या परिवार, उसका वातावरण आत्मानुशासन की पौध को सब प्रकार से फलने-फूलने का अवसर दे। विकास की सही प्रक्रिया यही है।

व्यवहारनय व्यवस्थागत अनुशासन को महत्त्व देता है। उसके अनुसार कोई व्यक्ति कितना ही आत्मानुशासित और शक्तिशाली हो, समूह के साथ तालमेल बिठाए बिना वह सफल जीवन नहीं जी सकता। तालमेल बिठाने के लिए सापेक्ष जीवन जीना जरूरी है। सापेक्षता के कुछ नियम हैं। उनका अतिक्रमण करने वाला समूह चेतना के विकास में बाधा उपस्थित कर देता है। व्यवस्था के अभाव में कदम-कदम पर कठिनाइयों

का सामना करना होता है। इसलिए मर्यादा, अनुशासन या व्यवस्था की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

निश्चयनय और अनुशासन

निश्चयनय नियम या व्यवस्था की चर्चा नहीं करता। वह कहता है–**पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि–** दु:ख-मुक्ति का एकमात्र उपाय है आत्म-निग्रह। जिस व्यक्ति का अपनी आत्मा पर नियंत्रण नहीं है, वह किसी के अनुशासन में नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में–अनुशासन में रहना और रखना केवल उपचार है। वास्तविकता है अपने भीतर से अनुशासन उत्पन्न करना। यह काम सरल नहीं है। जैन आगम आत्मानुशासन पर बल देते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है–

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

आत्मा का ही दमन-शमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। जो अपनी आत्मा का दमन करने में सफल हो जाता है, वही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

आत्म-दमन का अर्थ है–पांचों इंद्रियों और मन को उपशांत करना। दंडनीति में अपराधी का बलपूर्वक दमन किया जाता है। यह आत्मानुशासन नहीं हो सकता। अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति पूरी स्वतंत्रता के साथ अहिंसक विधि के द्वारा अपनी इंद्रियों और मन की चंचल प्रवृत्ति का नियंत्रण करता है। यही आत्म-दमन है।

अध्यात्म या निश्चयनय की दृष्टि में वध और बंधन के द्वारा होने वाले दमन को अच्छा नहीं माना जाता। इसलिए अध्यात्म का साधक सोचता है–

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य॥

अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूं । दूसरे लोग बंधन और वध के द्वारा मेरा दमन करें, यह अच्छा नहीं है।

व्यवहारनय और अनुशासन

व्यवहारनय उपचार को अस्वीकार नहीं करता। गुरु-शिष्य संबंध की पूरी परंपरा व्यवहार पर आधारित है। शास्त्रों में विनीत और अविनीत की परिभाषाओं का निर्धारण भी व्यवहारनय के आधार किया गया है। विनीत कौन होता है?

आणानिद्देसकरे गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति बुच्चई॥

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है, वह विनीत कहलाता है। इससे विपरीत आचरण करने वाला अविनीत कहलाता है।

जो शिष्य अपनी सत्ता को गुरु के चरणों में विलीन कर देता है, वह गुरु का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है। जिस शिष्य में थोड़ा-सा भी अहम् जागृत रहता है, वह गुरु के अनुग्रह को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता। लकड़ी जब तक भीगी रहती है, वह आग में जल कर भी धुआं देती है। गुरु के पास ज्ञान की ज्योति है। पर अहंकारी शिष्य कभी उस ज्योति को आत्मसात नहीं कर सकता।

बेल को ऊपर चढ़ने के लिए वृक्ष के सहारे की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार शिष्य को विकास की ऊंचाइयों तक पहुंचने के लिए गुरु के अनुशासन की अपेक्षा रहती है। भारतीय संस्कृति में गुरु-धारणा, दीक्षा या योग्य गुरु के वरण का यही उद्देश्य मान्य किया गया है। गुरु एक गरिमापूर्ण व्यक्ति होता है। उनके जीवन में त्याग, तपस्या और साधना का इतना तेज अपेक्षित है, जो शिष्य के लिए आदर्श बन सके। गुरु का काम शिष्य में छिपी हुई अर्हता को जगाना है। इसके लिए उन्हें वात्सल्य और

अनुशासन–दोनों उपाय काम में लेने होते हैं। वत्सलभाव से शिष्य का अहंकार टूट जाए तो कठोर अनुशासन की जरूरत नहीं रहती। जहां वत्सलता कार्यकारी न हो, वहां अनुशासन का सुदर्शन चक्र हाथ में लेना पड़ता है। चक्र का प्रत्येक आघात अहंकार पर होता है। पर अहंकार का विलय तभी संभव है, जब दोनों ओर से तीव्र प्रयत्न हो। अन्यथा कभी शिष्य अधीर होकर अपना रास्ता बदल लेता है या गुरु ही उसकी उपेक्षा कर देते हैं। गुरु का विशेष अनुग्रह शिष्य में अनंत संभावनाओं के द्वार खोल सकता है।

अनुशासन : एक शाश्वत सत्य

जैन परंपरा में साधना की दो शैलियां प्रचलित रही हैं–व्यक्तिगत और संघबद्ध। धर्म की साधना का मूल तत्त्व आत्मानुशासन ही है। पर साधना संघबद्ध हो तो उसमें आत्मानुशासन के साथ संघीय अनुशासन को भी आवश्यक माना गया है। भगवान महावीर तीर्थंकर थे। उन्होंने चतुर्विध श्रमण संघ की स्थापना की। उनकी अनुशासन–शैली अपने ढंग की थी। तीर्थंकर बने-बनाए रास्ते पर नहीं चलते। वे स्वयं पथ का निर्माण करते हैं। भगवान महावीर के धर्मशासन में १४००० साधु और ३६००० साध्वियां थीं। सब साधु-साध्वियां भगवान के धर्मशासन में थे। इतने विशाल धर्मसंघ की व्यवस्थाएं भी व्यापक थीं। उस समय आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर, प्रवर्तक और प्रवर्तनी–ये सात पद निर्धारित थे। व्यवस्था की सुविधा के लिए उक्त प्रत्येक पद पर अनेक व्यक्तियों की नियुक्ति होती थी।

भगवान महावीर का परिनिर्वाण होने के बाद उनका शासन सूत्र आर्य सुधर्मा ने संभाला। सामयिक अपेक्षाओं के अनुसार संघीय व्यवस्था में परिवर्तन भी होते रहे। पर एक संस्कार सूत्र आगे-से-आगे सरकता रहा–**'आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्ठिसंघाओ'**–संघ वह है, जहां आज्ञा प्रमाण होती है। जहां आज्ञा का महत्त्व नहीं है, वह संघ केवल

हड्डियों का ढेर है। जहां आज्ञा, अनुशासन और मर्यादा नहीं, वह संघ नहीं हो सकता।

संघ की सुव्यवस्था के लिए आज्ञा, अनुशासन, मर्यादा एवं व्यवस्था का स्वीकार सिद्धांतत: सभी को मान्य रहा है। उत्तरवर्ती परंपरा में अनुशासन एवं व्यवस्था के पक्ष को कहीं कसा गया और कहीं शिथिल किया गया। उसके आधार पर धर्मसंघों के स्वरूप में एकरूपता नहीं रह पाई। अनेक संघ और अनेक आचार्य–यह पद्धति भी नई नहीं है। सब संघों के एकीकरण की बात कभी सोची गई हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। यह अनपेक्षित और असंभव भी है। किन्तु हर संघ अनुशासित एवं व्यवस्थित रहे, इस अपेक्षा को तीव्रता से अनुभव करने की जरूरत है। अनुशासन और व्यवस्था मात्र सामयिक सत्य नहीं है। हर युग में हर व्यक्ति के लिए इनका उपयोग है। सामूहिक जीवन में जहां कहीं इनकी उपेक्षा हुई है, वहां बिखराब हुआ है और विकास में अवरोध आए हैं।

आंतरिक अनुशासन

जो व्यक्ति मंजिल तक पहुंच जाता है, उसके लिए पथ के नियम कृतार्थ हो जाते हैं। किन्तु जो रास्ते पर चल रहा है, वह यातायात के नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। इस बात को जानते हुए भी जो व्यक्ति असावधानी बरतता है, वह किसी भी क्षण दुर्घटना का शिकार हो सकता है।

कोई व्यक्ति कितना ही महान क्यों न हो, जीवन के नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। महत्ता का जितना विस्तार होता है, उसकी जागरूकता उतनी ही बढ़ जाती है। सतह पर तैरने वाले तल में छिपे रत्नों से परिचित नहीं हो पाते। इस संसार में जितने महान व्यक्ति हुए हैं, सबने अनुशासन की दुर्गम घाटियों को पार किया है। कुछ लोगों का चिंतन है कि एक ऊंचाई तक पहुंचने के बाद व्यक्ति मात्र अनुशासन वह जाता है। उस पर किसी का अनुशासन नहीं होता। सचाई यह है कि

'कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के'–कुशल व्यक्ति बाह्य अनुशासन से बद्ध नहीं होता और आंतरिक अनुशासन से मुक्त नहीं होता। साधना के क्षेत्र में आत्मविकास की सातवीं सोपान पर आरूढ़ होने के बाद बाह्य अनुशासन अकिंचित्कर बन जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां अनुशासन छूट जाता है। अनुशासन वहां भी रहता है, पर वह स्वतः स्फूर्त होता है, भीतर से उत्पन्न होता है। स्थूल दृष्टि से देखने वाले को वहां मुक्तता का आभास हो सकता है। पर आंतरिक अनुशासन का कसाव इतना बढ़ जाता है कि छोटी-से-छोटी प्रवृत्ति भी पूरी तरह से अनुशासित होती है।

अनुशासन कब तक?

साधु-जीवन का उद्देश्य है मोक्ष। मोक्ष की दिशा में ले जाने वाली जीवनशैली बंधनों से जकड़ी हुई होती है तो साधक का जिज्ञासु मन उद्वेलित हो जाता है। वह अपनी जिज्ञासा के पंख खोलता है–प्रभो! हम साधु बने हैं। हमारे सामने लक्ष्य है मुक्ति। अनंत काल से बंधन में छटपटाते प्राणों के बंधन काटने के लिए हमने आपकी शरण स्वीकार की। पर इस साधु-जीवन में तो बंधनों का जाल बिछा हुआ है। एक बंधन से मुक्त होने के लिए इतने बंधनों का स्वीकार हमारे मन में विस्मय उत्पन्न कर रहा है।

आचार्य ने शिष्य की मनोदशा को पढ़ा। उन्होंने शिष्य पर वत्सलभाव की वर्षा करते हुए कहा–वत्स! तुम्हारे मन में मुमुक्षा-मुक्त होने की इच्छा है, इस बात को मैं समझ रहा हूं। क्या तुम अपनी मुमुक्षा को खोलकर दिखा सकते हो? तुम्हें इस जीवन में कहां-कहां बंधन का अनुभव हुआ, क्या तुम बता सकोगे?

शिष्य मुक्ति के लिए तड़प रहा था। अचार्य की थोड़ी-सी अनुकूलता ने उसको मुखर बना दिया। वह बोला–भंते! साधु-जीवन में कितना अनुशासन है! कितनी व्यवस्थाएं हैं। हमारा मन पंछी की तरह आकाश

में स्वतंत्र विहार करना चाहता है। क्या आपकी दृष्टि में ये सब बंधन नहीं हैं?

आचार्य ने शिष्य के सिर पर अपना वरद हाथ रखा, उसे अपने निकट बिठाया और कहा–वत्स! साधु बनने वाला सामुदायिक जीवन स्वीकार करता है। जहां समुदाय है, वहां व्यवस्था और अनुशासन को दरकिनार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनके बिना सामूहिक जीवन सफल नहीं होता। इनको तुम बंधन मानते हो, मान सकते हो। ये बंधन हैं, पर उन लोगों के लिए बंधन हैं, जो दूसरों के द्वारा अनुशासित हैं। जो साधक स्वत:शासित हैं, वे संघीय अनुशासन और व्यवस्थाओं को आलंबन रूप से स्वीकार करते हैं।

आचार्य द्वारा प्राप्त प्रतिबोध से शिष्य की चेतना को प्रकाश मिला। किन्तु वह पूरी तरह से समाहित नहीं हुआ। उसने देखा कि अभी गुरुदेव के पास समय है और वे उसके प्रश्नों में रस ले रहे हैं। इसलिए मन के प्रत्येक कोने को टटोल कर पूछने की बात पूछ लेनी चाहिए। वह कुछ सोचकर बोला–भंते ! आपके कथन पर मुझे पूरा विश्वास है। फिर भी मन समाहित नहीं हुआ है। मैं जानना चाहता हूं कि जिस समुदाय में सब साधु आत्मानुशासित हों, वहां अनुशासन की अनिवार्यता क्यों है?

आचार्य अपने शिष्य की सरलता से प्रसन्न थे। उन्होंने प्रगाढ़ आत्मीय भाव के साथ कहा–वत्स! मैं स्वीकार करता हूं कि सब साधुओं का लक्ष्य आत्मानुशासन है। पर मैं यह भी जानता हूं कि आत्मानुशासन एक क्षण में सिद्ध होने वाला तत्त्व नहीं है। इसके लिए दीर्घकाल तक साधना जरूरी है।

आचार्य सत्यद्रष्टा थे। वे व्यक्ति, समय, क्षेत्र और परिस्थितियों को समझते थे। उन्होंने एक उदाहरण देते हुए कहा–वत्स! जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती है, कपड़े सघन होते जाते हैं। जब सर्दी कम होती है तो वस्त्र भी पतले हो जाते हैं। इसी प्रकार मोह की सघनता में अनुशासन प्रबल होता है और जैसे-जैसे मोह क्षीण होता है, अनुशासन कम होता जाता है। जिस

दिन मोह सर्वथा क्षीण हो जाएगा, आत्मानुशासन समग्र रूप से जग जाएगा, उस दिन गुरु के अनुशासन की कोई अपेक्षा नहीं रहेगी।

परिवार, समाज, संस्थान या धर्मसंघ, कोई भी संगठन हो, अनुशासन के बिना किसी का काम नहीं चलता। सामूहिक जीवन–सबकी अपनी आकांक्षाएं और अपने हित, स्वभाव और रुचि का भेद, शारीरिक क्षमता, मनोबल और चिंतन के धरातल का अन्तर। ऐसा स्थिति में अनुशासन न हो तो एक दिन भी व्यवस्था का संचालन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अनुशासन पर बल देते हुए आचार्य ने कहा–वत्स! सूर्योदय होने के बाद दीपक के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु सूर्य अस्त हो जाए, रात घिर आए, अंधकार गहरा जाए, उस समय भी दीपक जलाने की जरूरत नहीं है, यह बात बुद्धिगम्य नहीं हो पाती। इसी प्रकार आत्मानुशासन के पुष्ट होने पर बाह्य अनुशासन को कृतार्थ माना जा सकता है, किन्तु आत्मानुशासन के अभाव में भी गुरु या संघ के अनुशासन को अस्वीकार करने की बात सम्मत नहीं है।

संघमुक्त साधक की अर्हता

जैन आगमों में संघ के अनुशासन से मुक्त होकर साधना करने का प्रावधान है, पर उसके लिए उतने ही मजबूत धरातल की अपेक्षा है। सामान्यतः मुनि के लिए संघबद्ध साधना का विधान है। तीन कारणों से उसे संघमुक्त होकर साधना करने की आज्ञा भी दी गई है–

- एकाकी-विहार-प्रतिमा स्वीकार करने पर।
- जिनकल्प-प्रतिमा स्वीकार करने पर।
- मासिक आदि भिक्षु-प्रतिमाएं स्वीकार करने पर।

कुछ और भी ऐसे कारण हैं, जिनकी उपस्थिति होने पर संघीय अनुशासन से मुक्त होकर साधना की जा सकती है। किन्तु संघमुक्त रहकर साधना करने के लिए कम-से-कम आठ प्रकार की अर्हताओं का अर्जन आवश्यक माना गया है। 'ठाणं' सूत्र में उनकी चर्चा करते हुए बताया गया है–

१. श्रद्धावान पुरुष–अपने अनुष्ठानों के प्रति पूर्ण आस्थावान। ऐसे व्यक्ति का सम्यकत्व और चारित्र मेरु की भांति अडोल होता है।
२. सत्यवादी पुरुष–ऐसा व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा के पालन में निडर होता है, सत्याग्रही होता है।
३. मेधावी पुरुष–श्रुतग्रहण की मेधा से संपन्न।
४. बहुश्रुत पुरुष–जघन्यतः नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु को तथा उत्कृष्टतः असंपूर्ण दस पूर्वो को जानने वाला।
५. शक्तिमान पुरुष–तपस्या, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल–इन पांच तुलाओं से अपने आपको तोलने वाला।
६. अल्पाधिकरण पुरुष–उपशांत कलह की उदीरणा तथा नए कलहों का उद्भावन न करने वाला।
७. धृतिमान पुरूष-अरति और रति में समभाव रखने वाला तथा अनुलोम और प्रतिलोम उपसर्गों को सहने में समर्थ।
८. वीर्यसम्पन्न पुरूष–स्वीकृत साधना में सतत उत्साह रखने वाला।

जिस व्यक्ति की आस्था पुष्ट न हो, जिसकी मेधा जागृत न हो, जिसने शास्त्रों का गंभीर अध्ययन न किया हो, जो शक्तिसम्पन्न न हो, जिसकी वृत्ति शांत न हो, जिसका धृतिबल मजबूत न हो और जो साधना के क्षेत्र में निरुत्साही हो, वह व्यक्ति अकेला होकर पग-पग पर अवसाद को प्राप्त करता है। उसके सामने न कोई पथदर्शक होता है, न संभालने वाला होता है और न सारणा-वारणा-प्रेरणा, स्मारणा एवं निषेध करने वाला होता है। इसी दृष्टि से आचार्य संघदासगणी ने बृहत्कल्प भाष्य में लिखा है–

अपुव्वस्स अगहण न संकियपुच्छणा न सारणा च।
गुणयंते य अदडु सीदई एगस्स उच्छाहो॥

–अकेला रहने वाला साधक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के क्षेत्र में कुछ भी नया ग्रहण नहीं कर सकता। जहां कहीं उसके मन में संदेह पैदा होता है, उसे कोई समाधान देने वाला नहीं मिलता। वह अपने जीवन में

कितने ही श्रेष्ठ काम करे, उसे कोई प्रोत्साहन देने वाला नहीं होता। उसके सामने उपयुक्त वातावरण नहीं रहता। वह किसी को पढ़ते, लिखते, स्मरण करते और नए-नए काम करते नहीं देखता है। एकाकीपन के कारण उसका उत्साह क्षीण हो जाता है।

सारणा–वारणा विकास का एक बड़ा आधार है। जिस संघ में सारणा-वारणा नहीं होती, वह संघ आगे नहीं बढ़ सकता। आचार्यश्री तुलसी ने इस सत्य का अनुभव किया। अपने अनुभव को अभिव्यक्ति देते हुए उन्होंने लिखा–

सारणा-वारणा यत्र, सर्वदा समयोचिता।
सापेक्षत्वेन जायेत, स संघः संघ उच्यते॥

जिस संघ में सापेक्ष रूप में समय के अनुसार उचित सारणा-वारणा होती रहती है, वही संघ सही अर्थ में संघ है।

साधकों की नई श्रेणियां होती हैं। विशिष्ट श्रेणियों में पहुंचने के बाद मार्गदर्शन, सारणा, वारणा, प्रतिचालना आदि कृतार्थ हो जाते हैं। किन्तु प्राथमिक श्रेणियों में ये सब न हों तो प्रगति के दरवाजे बंद ही रहते हैं। आचार्य संघदासगणी ने सारणा-वारणा न करने वाले संघ को छोड़ने तक का निर्देश दिया है–

जहिं नत्थि सारणा–वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो॥

जिस संघ में सारणा-वारणा और प्रतिचालना नहीं है, वह गच्छ-समुदाय होकर भी गच्छ नहीं है। संयम की साधना करने वाले पुरुषों के लिए ऐसा गच्छ छोड़ने योग्य है।

संघ का प्राण-तत्त्व

संघ और अनुशासन का संबंध शरीर और प्राण का संबंध है। शरीर बहुत सुन्दर है, सजा हुआ है, पर प्राणविहीन है। उस शरीर का क्या मूल्य होगा? संघ बहुत बड़ा है। त्यागी, तपस्वी, स्वाध्यायी, ध्यानी,

सेवाभावी, प्रवचनकार, संगीतकार, कलाकार आदि सभी प्रकार के साधक वहां साधना करते हैं। किन्तु अनुशासन नहीं है तो वह संघ चल नहीं पाएगा। चलेगा तो व्यवस्थित रूप से नहीं चलेगा। क्योंकि अनुशासन के अभाव में पदलिप्सा, यशोलिप्सा, सुविधावाद, शिष्यलोलुपता और बढ़ते हुए शिथिलाचार पर नियंत्रण कौन करेगा? संघ छोटा हो या बड़ा, उसका प्राणतत्त्व अनुशासन है।

प्रश्न है–संघ में अनुशासन कैसे आए? अनुशासन द्विष्ठ होता है–उसका संबंध कम-से-कम दो व्यक्तियों के साथ है। प्रथम व्यक्ति है अनुशास्ता–अनुशासन करने वाला। दूसरा व्यक्ति है अनुशास्य–जिस व्यक्ति पर अनुशासन करना है। अनुशास्ता सब नहीं होते, अनुशास्य सब हो सकते हैं। अनुशास्ता भी अनुशास्य होकर ही अपने काम में सफल होता है। यह सिद्धांत मान्य है–**सीसस्स हुंति सीसा, न हुंति सीसा असीसस्स**–जो व्यक्ति स्वयं शिष्य रह चुका है, उसी के शिष्य होते हैं। जिसने अपने जीवन में कभी शिष्यता का अनुभव नहीं किया, उसके शिष्य नहीं हो सकते।

मनोविज्ञान का एक सिद्धांत है कि संबंधों का रेशमी धागा संवेदना के काष्ठचक्र पर ही लपेटा जा सकता है। बहू की भूमिका से गुजरने वाली सास ही बहू के साथ समायोजित हो पाती है। जिसके पास बहू जैसा मन नहीं है या वैसी मानसिकता का जिसे अनुभव नहीं है, वह उसके प्रति मानवीय दृष्टिकोण का विकास नहीं कर सकती।

मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र की एक शाखा है। इसके लिए अंग्रेजी भाषा में 'साइकॉलोजी' शब्द का प्रयोग होता है। इसमें दो शब्दों का योग है–साइको और लॉजी। साइको शब्द का प्रयोग आत्मा, चेतना और मन के लिए होता है। लॉजी का अर्थ है विज्ञान और अध्ययन। सामूहिक जीवन का संबंध मन से भी आगे व्यवहार के साथ है। व्यवहार को समझने के तीन बिन्दु हैं–विचार, भाव और क्रिया। जब तक एक-दूसरे के विचारों, भावों और क्रियाओं को सही ढंग से समझा नहीं जाता, जीवन की दिशा प्रशस्त नहीं हो पाती।

मनोविज्ञान के तीन लक्ष्य हैं–व्यवहार को समझना, व्यवहार की व्याख्या करना और कौन व्यक्ति किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार कर सकता है–इस पूर्वानुमान के आधार पर व्यवहार का नियंत्रण करना। मानस-चिकित्सा और व्यवहार-चिकित्सा के आधार पर व्यक्ति का समूह में समायोजन किया जा सकता है। समायोजन का दायित्व सबका होता है। पर इस क्षेत्र में विशेष जिम्मेदारी नेतृत्व की है। एक समूह के पारस्परिक व्यवहारों का अध्ययन करके नेता के गुण-दोषों की समीक्षा भी की जा सकती है। समूह को नई दिशा देना, विषम परिस्थितियों में भी उसे टूटने न देना और व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना–ये सभी काम नेता के होते हैं।

नेतृत्व के दो रूप हैं–डेमोक्रेटिक और ओटोक्रेटिक। डेमोक्रेटिक नेतृत्व लोकतांत्रिक होता है। उसमें दूसरे के सुझावों का समादर किया जाता है और सबको साथ लेकर चलने का मनोभाव रहता है। ओटोक्रेटिक नेतृत्व अधिनायकवादी दृष्टिकोण के आधार पर चलता है। धार्मिक क्षेत्र में नेतृत्व की अपनी परम्परा है। आज यह क्षेत्र भी विकृतियों से बच नहीं पाया है। फिर भी यह तो निश्चित है कि गुरु-शिष्य संबंध की सांस्कृतिक चेतना को जगाए रखने के लिए गुरु की गरिमा का संरक्षण आवश्यक है।

संघ और आचार्य

जैनशासन में धर्मसंघों की लम्बी परंपरा है। संघीय दायित्व निभाने की क्षमता का अर्जन करने के लिए साधु जीवन की कम-से-कम आठ वर्षों की साधना और अनुभवों का होना आवश्यक है। आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल, उपग्रहकुशल, अक्षत आचार, अशबल आचार, अभिन्न आचार और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत हो, अनेक आगमों का ज्ञाता हो, कम-से-कम स्थानांग और

समवायांग का ज्ञाता हो, उसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक का पद दिया जा सकता है।

संघ चार प्रकार का होता है–श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। इस चतुर्वर्ण धर्मसंघ को ही तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ अर्थात् संघ की स्थापना करने के बाद ही अर्हत् तीर्थंकर होते हैं।

जिनकल्प की साधना बहुत कठोर होती है। किन्तु परम्परा कहती है कि जिनकल्प साधना करने वाले भी पुनः संघ में प्रविष्ट होकर ही अपने साध्य को सिद्ध कर पाते हैं। धर्मसंघ साधकों के लिए शरण है, त्राण है, गति है, प्रतिष्ठा है और साधना का आधार है। **व्यवहार भाष्य** में संघ का वैशिष्ट्य बताते हुए लिखा है–

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोयओ य कम्माणं।
दंसणणाणचरित्ते सधायतो हवे संघो॥

गुणों का संघात संघ है। वह कर्मों का विमोचक है। वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र को संहत-समुदित करता है।

आसासो वीसासो सीयघरसमो य होइ मा भाहि।
अम्मापितिसमाणो संघो सरणं तु सव्वेसिं ॥

संघ आश्वास है। विश्वास है। शीतगृह–वातानुकूलित घर के समान है। यह माता-पिता के समान पालन और संरक्षण करने वाला है। और सब प्राणियों के लिए शरण है। ऐसे संघ से भय किस बात का?

गुरु बनाते हैं चेतना को अंतर्मुखी

साधना का पथ स्वीकार करने के बाद परिस्थिति विशेष से बाधित होकर साधक का मन दुर्बल हो जाए तो उसकी संभाल संघ में ही हो सकती है। अकेले साधक को कौन संभाले ? कौन प्रेरित करे और पुनः संयम में स्थापित करे?

सम्राट श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार जिस दिन मुनि बना, उसी रात्रि में उसका मन व्यथित हो गया। उसे रात के समय सोने के लिए जो स्थान

मिला, वह दरवाजे के पास था। रात-भर साधुओं के गमनागमन के कारण वह सो नहीं सका। संकल्प-विकल्पों से आहत होकर सूर्योदय होते ही भगवान महावीर से पूछकर घर लौटने का निर्णय ले लिया।

रात ढली। पौ फटी। सूर्योदय हुआ। मुनि मेघ भगवान महावीर के चरणों में उपस्थित हुआ। भगवान को विधिवत वंदन कर उनके निकट बैठा। भगवान ने कहा–'मेघ! तुमने अपने पिछले जनम में हाथी के भव में कितना कष्ट सहा? आज तुम थोड़े से कष्ट से घबरा क्यों गए?'

भगवान उपायज्ञ थे। उन्होंने उपाय का प्रयोग किया। शैक्ष मुनि मेघ को उसका अतीत प्रत्यक्ष करा दिया। मुनि मेघ के मन की दुर्बलता दूर हो गई। वह पुनः संयम में स्थिर हो गया। मुनि को समय पर अपने धर्माचार्य का उचित मार्गदर्शन नहीं मिलता तो वह संयमरत्न की सुरक्षा नहीं कर पाता। यह घटना धर्मसंघ और धर्मगुरु की महत्ता को उजागर करने वाली है। धर्मसंघों के इतिहास में ऐसी घटनाओं की सूची बहुत लम्बी है। गुरु के सान्निध्य में साधना करने वाले शिष्य के लिए सबसे बड़ी सुविधा यही है कि उसकी बहिर्मुख होती हुई चेतना को गुरु अंतर्मुखी बना देते हैं।

गुरु और शिष्य

सूफी फकीर बायजीद अपने गुरु के पास गया। गुरु ने उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। बायजीद प्रतिदिन गुरु के चरणों में उपस्थित होता। गुरु ने कभी कुछ नहीं कहा। पूरा एक वर्ष बीत गया। गुरु ने मौन खोला–बायजीद! कैसे आए? बड़ा विचित्र था बायजीद भी। वह बोला–'आप जानते हैं।' गुरु फिर मौन हो गए। एक वर्ष और बीता। गुरु ने पूछा–बायजीद! कुछ करना चाहते हो?' बायजीद बोला–'मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं, जब आप कोई निर्देश देंगे, काम करना शुरू कर दूंगा।' गुरु ने इससे आगे कुछ नहीं कहा। एक वर्ष और बीतने के बाद गुरु ने बायजीद के कंधे पर हाथ रखा, आंखों में गहराई से झांका और

कहा–'जाओ बायजीद! तुम्हें जहां पहुंचना था, तुम पहुंच गए। अब कुछ भी करना शेष नहीं बचा है।'

देखने वालों को आश्चर्य हुआ। बायजीद जैसे आया, वैसे ही चला गया। उसने क्या किया? क्या पाया? कभी खुलकर गुरु से बात तक नहीं की। न शिक्षा और न अभ्यास। बिना कुछ किए वह अपने लक्ष्य तक कैसे पहुंचा? लोगों की आंखों में प्रश्न थे। गुरु ने प्रश्नों को समाहित करते हुए कहा–बायजीद मेरे पास आया। पूरी तरह से खाली होकर आया। पूर्वाग्रहों और धारणाओं से मुक्त होकर आया। यहां रहा। कुछ पाने की आकांक्षा से मुक्त होकर रहा। गुरु उसकी ओर देखें, उससे बात करें, उसे प्रतिबोध दें–यह आकांक्षा भी नहीं। एक वर्ष के बाद पूछे गए दो शब्दों–कैसे आए? ने उसको कृतार्थ कर दिया। यहां आकर रहना और कुछ करने की आतुरता से उबरकर रहना, सामान्य बात नहीं है। इसने अपना सब-कुछ समर्पित कर दिया। जब इसके कंधे पर हाथ रख दिया तो इसे सब-कुछ मिल गया। मैं कुछ कर सकता हूं–यह अहंकार छूट गया। मेरा कोई है–यह ममकार छूट गया। अहंकार और ममकार–ये दो बड़ी बाधाएं हैं साधना के क्षेत्र में। इन बाधाओं के हटते ही झोली उपलब्धियों से भर जाती है। पर कहां मिलते हैं ऐसे शिष्य, जो पूर्ण रूप से समर्पित होकर जीना जानते हैं? कहां मिलते हैं ऐसे गुरु–, जो आंखों में झांककर ही पूरे जीवन को आलोक से भर देते हैं?

गुरु के पास ज्ञान होता है, अनुभव होता है, शिष्य के व्यक्तित्व को रूपांतरित करने की क्षमता होती है, पर उसका लाभ बायजीद जैसा समर्पित शिष्य ही उठा पाता है। **उत्तराध्ययन सूत्र** में बताया गया है–

अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं ।
हियं तं मन्नए पण्णो, वेसं होइ असाहुणो॥

मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन हितसाधना का उपाय और दुष्कृत का निवारक होता है। प्रज्ञावान मुनि उसमें अपना हित देखता है। असाधु के लिए वही द्वेष का हेतु बन जाता है।

विनीत शिष्य गुरु के किसी भी व्यवहार से संदिग्ध या असंतुष्ट नहीं होता। संघीय जीवन में उसे निरंतर ऐसा मार्गदर्शन मिलता रहता है–

जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे॥

आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों से जो अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है–ऐसा सोचकर शिष्य जागरूकता पूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करे।

अनुशासन में निखरता है व्यक्तित्व

वर्तमान युग में स्वतंत्र मनोवृत्ति को महत्व देने वाले व्यक्ति अनुशासन को विकास में बाधक मानते हैं। कुछ दशक पूर्व विश्व में हिप्पीज और बीटल्स की एक संस्कृति अस्तित्व में आई थी। इस संस्कृति को प्रोत्साहन देने वाले युवक-युवतियों ने पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादाओं, परम्पराओं और वर्जनाओं को तोड़कर मुक्त जीवन जीने का संकल्प स्वीकार किया। कुछ समय तक यह चर्चा सुर्खियों में रही। धीरे-धीरे इसके स्वर मंद हो गए। क्योंकि सामूहिक जीवन मर्यादा और अनुशासन बिना चल ही नहीं सकता। समूह छोटा हो या बड़ा, व्यवस्था बनाए रखने के लिए कुछ नियमों का पालन तो करना ही होगा। अन्यथा समाज में अराजकता की स्थिति पैदा हो सकती है। धार्मिक क्षेत्र में तो अनुशासन की अतिरिक्त महिमा गाई गई है। मृदु अनुशासन की तो बात ही क्या, कठोर अनुशासन को सहन किए बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। इस तथ्य को अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है–

जिन मणिरत्नों को तराशने के लिए 'शाण' पर नहीं चढ़ाया जाता, उन्हें राजा-महाराजाओं के मुकुट में नहीं जड़ा जाता। इसी प्रकार जो शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन से संभूत तिरस्कार या प्रताड़ना को सहन नहीं कर पाता, वह कहीं महत्त्व नहीं पा सकता।

आवश्यक है चारित्रमोह का क्षयोपशम

अनुशासन से व्यक्तित्व में निखार आता है, जीवन व्यवस्थित होता है और वृत्तियों का परिष्कार होता है। सिद्धांतत: इस बात को अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं पर आचरण की धरती पर उनके पांव फिसल जाते हैं। दूसरों को उपदेश देते समय व्यक्ति इन फार्मूलों को काम में लेते हैं, किन्तु स्वयं के जीवन पर इन्हें लागू करने में कठिनाई होती है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न के संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञ का अभिमत यह है–किसी भी तत्त्व का ज्ञान होता है ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से। पर जब तक मोहनीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता, वह तत्त्व आचारगत नहीं हो सकता। मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं–दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह के क्षयोपशम से व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक बनता है। वह अपनी दुर्बलता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने लगता है। दुर्बलता से छुटकारा पाने के लिए आचरण को उन्नत बनाना होगा। आचरण तब तक नहीं बदलेगा, जब तक चारित्रमोह का क्षयोपशम नहीं होगा।

कुछ लोग चालू भाषा में कह देते हैं–उपदेश सुनते-सुनते बीस वर्ष हो गए. कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। ऐसी ही एक समस्या लेकर कोई शिष्य गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ। उसकी साधना का वह दसवां वर्ष चल रहा था। दस वर्षों में वह जैसा बनना चाहता था, नहीं बन सका। मन में निराशा के भाव आए। साधना से मन ऊबने लगा। उसने अपनी समस्या इस भाषा में प्रस्तुत की–गुरुदेव! बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा लेकर आश्रम में आया था। क्रोध, अभिमान आदि निषेधात्मक भावों पर विजय प्राप्त कर मैं असाधारण व्यक्तित्व का निर्माण करूंगा, यह मेरा एक सपना था। पर दस वर्षों की कठोर साधना से भी मेरे जीवन में विशेष बदलाव नहीं आ सका। क्या मैं यह मान लूं कि स्वभाव बदला नहीं जा सकता?

उस दिन गुरु मौन रहे। शिष्य ने सोचा–आज समय की अनुकूलता नहीं है, फिर कभी पूछूंगा। गुरु ने दूसरे दिन शिष्य को निर्देश दिया–एक पिल्ला पकड़कर लाओ। उसकी अच्छे ढंग से देखभाल करो। शिष्य आश्रम से बाहर गया। एक पिल्ले को पकड़कर ले आया। वह उसे खाना देता, पानी पिलाता, सहलाता और दिन-रात अपने साथ रखता। पांच-चार दिनों में वे दोनों अच्छे मित्र बन गए। एक सत्याह के बाद गुरु ने शिष्य को आदेश दिया–पिल्ले को आश्रम से बाहर छोड़ आओ। शिष्य उसे छोड़कर आया। वह अपने कुटीर में पहुंचा, उससे पहले ही पिल्ला वापस आ गया। शिष्य तीन-चार बार पिल्ले को साथ-साथ लेकर आश्रम से बाहर गया। किन्तु वह उसे छोड़ने में सफल नहीं हुआ। आखिर वह असफल होकर गुरु के पास पहुंचा।

गुरु ने शिष्य को मधुर शब्दों से संबोधित करते हुए कहा–वत्स! सात दिनों से पाले हुए पिल्ले को इतना प्रयत्न करके भी तुम नहीं छोड़ सके। तुमने संस्कारों को कितने जन्मों से पाल रखा है। वे इस प्रकार आत्मसात हो गए हैं कि वर्षों की साधना भी उन्हें खदेड़ नहीं सकी। तुम इस बात को लेकर निराश मत बनो। अपनी साधना करते रहो। जिस दिन संस्कारों की जड़ें खोखली हो जाएंगी, उन्हें उखाड़ने में समय नहीं लगेगा। तुम्हारा साधनाकाल व्यर्थ नहीं हो रहा है। साधना का हर प्रयोग संस्कारों पर एक आघात करता है। अंतिम आघात से सफलता का द्वार खुलता है। पर पूर्व आघातों की प्रक्रिया निष्फल नहीं है। तुम अपने पुरुषार्थ की लौ को प्रदीप्त रखो। तुम्हारे जीवन की धरती पर रूपान्तरण के फूल खिलकर रहेंगे।

चारित्रमोह का क्षयोपशम और क्या है–पुरुषार्थ की ही निष्पत्ति है। मर्यादा, अनुशासन और व्यवस्थाओं के प्रति जागरूक रहने की बात भी क्षयोपशम-सापेक्ष है। साधक का दायित्व है कि वह अपने जीवन को इस सांचे में ढालने के लिए निरंतर पुरुषार्थ करता रहे।

अनुशासन है सिद्धियों का द्वार

हर युग में कुछ लोग स्वतंत्र मानसिकता वाले होते हैं। वे नहीं चाहते कि उन पर कोई अनुशासन करे। जबकि अनुशासन जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है। आज शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा बल पकड़ती जा रही है। किन्तु विद्यार्थियों का जीवन मूल्यहीनता की दिशा में अग्रसर हो रहा है। राष्ट्रीय अनुशासन का तत्त्व तो संभवतः इतिहास में रह गया है। समाज और परिवार में भी अनुशासन का स्वर मंद से मंदतर होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के जीवन में अनुशासन कहां से आएगा? अनुशासन के अभाव में ही वर्तमान पर संकट के बादल गहराते जा रहे हैं। इस संकट से बचने का एकमात्र उपाय है अनुशासित जीवन।

गुरुकुलों की प्राचीन परंपरा में अनुशासन का ही एकछत्र साम्राज्य था। आचार्य सोप्रभ ने तो यहां तक कह दिया–

किं ध्यानेन भवत्वशेषविषयत्यागैस्तपोभिः कृतं,
पूर्णं भावनयालमिंद्रियदमैः पर्याप्तमाप्तागमैः।
किन्त्वेकं भवनाशनं कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासनम्,
येनैकेन बिना विनाथबलवत् स्वार्थाय नालं गुणाः॥

साधक! तुम ध्यान करते हो, संपूर्ण विषयों का त्याग करते हो तपस्या करते हो, अच्छी भावना से भावित रहते हो, इंद्रिय-निग्रह करते हो, आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत शास्त्रों का अध्ययन करते हो। पर अनुशासनहीन इन अनुष्ठानों से क्या होगा? तुम विनय के साथ गुरु के अनुशासन का पालन करो। अनुशासन के अभाव में उक्त क्रियाएं प्रयोजन-सिद्धि में वैसे ही असमर्थ हैं, जैसे बिना सेनापति के सेना का युद्ध में विजयश्री का वरण।

अनुशासन और समर्पण, वात्सल्य और विनय संगठन की दृढ़ता के प्रमुख तत्त्व हैं। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का भार ढोते हैं, कभी समर्पित नहीं हो सकते। समर्पण के अभाव में गुरु के अनुशासन को भी विनम्रतापूर्वक स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहां विनय और वात्सल्य

का योग होता है, वहां समर्पण करना नहीं पड़ता, वह सहज प्रकट होता है। हार्दिक समर्पण और हार्दिक अनुशासन–धर्मसंघ का गौरव इसी क्रम से वृद्धिगत होता है।

अंधेरे में मिला आलोक

आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के प्रवर्तक थे। उन्होंने एक परम्परित धर्मसंघ की सदस्यता स्वीकार कर अपनी जीवनयात्रा प्रारंभ की। उस यात्रा में उन्हें अपने आदर्श खण्डहर होते प्रतीत हुए। उनकी चेतना स्पन्दित हुई। उन्होंने खंड-खंड होते आदर्शों की ओर अपने मार्गदर्शक का ध्यान आकृष्ट किया। पर उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने वाला आश्वासन नहीं मिला। वे शास्त्रों की गहराई में उतरे। आदर्श और व्यवहार की विसंवादिता ने उनको आंदोलित कर दिया। वे फिर अपने मार्गदर्शक के पास पहुंचे। उनके संवादों का लंबा सिलसिला चला। पर सार्थक परिणाम सामने नहीं आया। उन्होंने अपना रास्ता स्वयं बनाने का निर्णय लिया। अनेक प्रकार की विभीषिकाओं के कुहासे को चीरकर वे आगे बढ़े। पग-पग पर अवरोध, पग-पग पर विरोध, किन्तु वे रुके नहीं। उन्हें अनेक प्रकार की धमकियां मिलीं, पर वे घबराए नहीं। केलवा (मेवाड़) की अंधेरी ओरी में उन्होंने आंतरिक आलोक पाया। आदर्श तक पहुंचाने वाले पथ पर पदन्यास किया। वह समय वि. सं. १८१७, आषाढ़ मास की पूर्णिमा का दिन था।

तेरह साधु और तेरह श्रावक एक धर्मक्रांति के पुरस्कर्ता थे। तेरह की संख्या के आधार पर ही उस धर्मक्रांति को नया नाम मिला–तेरापंथ। आचार्य भिक्षु की जागृत प्रज्ञा ने इस संकीर्णता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस नाम को एक व्यापक प्रस्तुति देते हुए कहा–**'हे प्रभो! यह तेरापंथ।'** ममकार और अहंकार विसर्जन का एक नया प्रयोग। प्रभु के पंथ का स्वीकार और अपने संपूर्ण अहंकार का परिहार–एक स्वतः स्फूर्त मर्यादा ने समर्पण का सूत्रपात कर दिया।

तेरापंथ का संविधान

नया काम कोई भी हो, प्रारंभ में कठिनाइयां आती हैं। नया पंथ कैसा भी हो, प्रारंभ में चलने वालों के मन में कुछ आशंकाएं रहती हैं। धीरे-धीरे काम जमता है। धीरे-धीरे पंथ प्रशस्त होता है। आचार्य भिक्षु ने बारह साथियों के साथ जो यात्रा शुरू की, सब साथी साथ-साथ नहीं चल पाए। तेरह सहयात्रियों में से सात बिछुड़ गए। छह साधु रहे। छह साधुओं की व्यवस्था का काम बहुत जटिल नहीं होता। पर दीर्घकालीन नीति का निर्धारण चिंतन की प्रखरता मांगता है। धर्मसंघ मर्यादित हो, उसमें अनुशासन एवं व्यवस्था बनी रहे, इस दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने एक संविधान की अपेक्षा का अनुभव किया। वि. सं. १८३२, मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी के दिन एक लिखत लिखा। उसका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा–**''चेला री, कपड़ा री, साताकारिया खेतर री आदि देइ नीं ममता कर-कर नै अनन्ता जीव चारित्र गमाय नै नरक निगोद मांहे गया छै। तिण सूं शिषादिक री ममता मिटावण रो नै चारित्र चोखो पालन रा उपाय किधो छै। विनयमूल धर्म नै न्याय मार्ग चालन रो उपाय कीधो छै। भेखधारी विकलां ने मूंड भेळा करै, ते शिषां रा भूखा एक-एक रा अवर्णवाद बोलै, फारातोड़ो करै, कजिया राड करै, एहवा चरित देख नै साधां रे मर्यादा बांधी। शिष-साषा रो संतोष कराय नै सुखे संजम पालण रो उपाय कीधो''।**

उक्त लिखत लिखकर आचार्य भिक्षु ने तत्कालीन साधुओं को एकत्र कर सुनाया। उसके बारे में एक-एक साधु के विचार आमंत्रित किए। वैचारिक स्वतंत्रता का अधिकार देते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा–'जो मर्यादाएं मैंने लिखी हैं, उन्हें आज सब पढ़ें, उन पर विचार करें, जिनको इनका औचित्य समझ में आए, वे अपनी सहमति प्रकट करें। मेरी ओर से किसी साधु पर कोई दबाव नहीं है। आप अपना चिन्तन निर्भय होकर बताएं।' साधुओं ने उन मर्यादाओं को देखा, उन पर विचार किया और

उन्हें संघ पर लागू करने के विषय में अपनी सहमति प्रकट की। आचार्य भिक्षु दूरदर्शी थे। वे मौखिक सहमति पर रुके नहीं। उन्होंने प्रत्येक साधु से लिखत-पत्र पर हस्ताक्षर कराए। एक-एक साधु से पूछकर, उनसे स्पष्ट कहलाकर मौखिक और लिखित रूप में सबकी स्वीकृति पाकर उन्होंने उसे तेरापंथ धर्मसंघ के संविधान का रूप दे दिया। उसके बाद समसामयिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर समय-समय पर व्यक्तिगत और सामूहिक अनेक लिखत लिखे गए। अंतिम लिखत वि. सं. १८५९ का है। तेरापंथ धर्मसंघ का मौलिक संविधान वही है। उसी को आधार बनाकर चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने मर्यादा-महोत्सव का सूत्रपात किया। उस संविधान की कुछ मुख्य धाराएं ये हैं–

१. सब साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।
२. विहार चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें।
३. अपने शिष्य न बनाएं।
४. आचार्य योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करें। दीक्षित करने पर भी कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दें।
५. आचार्य अपने गुरुभाई या शिष्य को उत्तराधिकारी चुनें तो सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें।
६. श्रद्धा या आचार के बोल को लेकर गण में भेद न डालें। दलबन्दी न करें। आचार्य व बहुश्रुत साधु कहें, वह मान लें अथवा केवलिगम्य कर दें।
७. गण में शुद्ध साधुपन सरधे, वह गण में रहे, किन्तु छल-कपटपूर्वक गण में न रहे। जिसका मन साक्षी दे, भलीभांति साधुपन पलता जाने, गण में तथा अपने आप में साधुपन माने तो गण में रहे। किन्तु वंचनापूर्वक गण में न रहे।
८. गण में किसी साधु-साध्वी के प्रति अनास्था उपजे, शंका उपजे, वैसी बात न करें।

९. किसी साधु-साध्वी में दोष जान पड़े तो तत्काल उसे या आचार्य को जता दें, किन्तु उसका प्रचार न करें। दोषों को चुन-चुन कर इकट्ठा न करें।
१०. किसी साधु-साध्वी को जाति आदि को लेकर ओछी जबान न बोलें।
११. गण के पुस्तक-पन्नों आदि पर अपना अधिकार न करें।
१२. गण से बहिष्कृत या बहिर्भूत व्यक्ति से संस्तव न करें।
१३. पद के लिए उम्मीदवार न बनें।

आचार्य भिक्षु ने कानूनशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था। किसी प्रसिद्ध विधिवेत्ता का सहयोग भी उन्हें नहीं मिला था। उन्होंने अपने अनुभव, चिन्तन और सूझबूझ के द्वारा एक छोटे-से समुदाय के लिए जो संविधान बनाया, वह सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों के समूह को संगठित और सुव्यवस्थित रखने के लिए पर्याप्त है। विगत तेईस दशकों में उसकी किसी भी धारा में परिवर्तन की अपेक्षा नहीं हुई है। यह संभावना की जा सकती है कि आचार्य भिक्षु की अर्न्तदृष्टि खुल गई, प्रज्ञा जाग गई, इसी कारण वे शाश्वत उपयोगिता वाले संविधान का निर्माण कर सके।

हजारों वर्षों की परंपरा में नया मोड़

तेरापंथ के संविधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने कुछ नई परम्पराएं स्थापित कीं। भगवान महावीर की शासन परम्परा में अनेक धर्मसंघ थे। एक संघ में अनेक आचार्यों की परम्परा असम्मत नहीं थी। तेरापंथ के संविधान का प्रथम सूत्र है—सब साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें। यह प्रयोग साधु-साध्वियों के लिए जितना कठिन है, आचार्य के लिए उससे भी अधिक कठिन है। आज्ञा में चलने वालों के लिए एक ही काम करणीय है—अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं को गुरु के चरणों में समर्पित कर देना। **एके साधे सब सधे**—समर्पण का सूत्र हाथ लग गया तो सब-कुछ मिल गया। सारी चिन्ताएं छूटीं, सारी उलझनें

सुलझीं और जीवन पूरी तरह से निश्चिंत हो गया। साधना, शिक्षा, स्वास्थ्य, यात्रा आदि की व्यवस्था का पूरा दायित्व गुरु पर। बुढ़ापे में सेवा कौन करेगा? एक क्षण के लिए भी यह चिन्ता नहीं सताती। किसी प्रकार की समस्या सामने आई, गुरु के चरणों में पहुंचो और समाधान प्राप्त करो। कितना आनन्दमय जीवन होता है समर्पित साधकों का! किन्तु समर्पण न हो, विनम्रता न हो, सहिष्णुता न हो, विश्वास न हो, धृति न हो और अन्तर्मुखता न हो तो अनुशासन में रहना बहुत कष्टकर हो जाता है।

अनुशास्ता के पास जादू का डंडा नहीं होता, जिसे घुमाकर सबको नियंत्रण में रखा जा सके। न उनके पास सैन्यशक्ति है, न दण्डशक्ति है और न बहुमत का बल है। उनके पास होता है अपनी साधना से अर्जित तेज और धर्मसंघ का संविधान। **निज पर शासन : फिर अनुशासन**–इस आदर्श को सामने रखकर वे व्यवस्था-तंत्र का संचालन करते हैं। एक-एक व्यक्ति की मानसिकता को समझना और उसे यथोचित स्थान में नियोजित करना बहुत बड़े कौशल का काम है।

संगठन की दृढ़ता के तत्त्व

तत्कालीन साधु-संस्थाओं में एक आचार्य के नेतृत्व में रहने वाले साधु-साध्वियों के लिए भी व्यक्तिगत रूप में अपने-अपने शिष्य बनाने की छूट थी। इससे संगठन दुर्बल रहता था और शिष्य बनाने की होड़ में योग्य-अयोग्य का परीक्षण भी नहीं होता था। एक-दूसरे के शिष्यों को पटाना, दीक्षा के लिए उद्यत भाई-बहनों को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में करना, समर्थ साधुओं द्वारा शक्ति का उपयोग करना आदि पद्धतियां भी प्रचलित थीं। आचार्य भिक्षु ने इन सब स्थितियों का अनुभव किया। इनके कारण संघ में संभावित बिखराव को रोकने के लिए उन्होंने संविध ान में एक धारा बनाई–कोई भी साधु-साध्वी अपना शिष्य न बनाए। उस परिस्थिति में इस धारा को लागू करना बहुत कठिन था। किन्तु आचार्य

भिक्षु ने सोचा–हमारी नई व्यवस्था में अपने-अपने शिष्य बनाने का क्रम प्रारंभ हो गया तो फिर उसे रोकना संभव नहीं होगा। शिष्य लोलुपता का रस साधु-साध्वियों को न लगे, इसलिए पानी आने से पहले ही पाल बांधना जरूरी है। शताब्दियों से जमे हुए संस्कारों को एक झटके से बदल देना हर एक व्यक्ति के वश की बात नहीं होती। साधारण व्यक्ति तो इतना साहस ही नहीं कर सकता।

व्यक्तिगत शिष्य प्रथा को नियंत्रित करने के बाद भी साधु-साध्वियों में आपसी दलबंदी का अवकाश रहता तो संगठन के प्राकार में कहीं भी दरारें हो सकती थीं। इस दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने दलबंदी पर तीखा प्रहार किया। 'गण में रहूं निर्दाव एकल्लो'–संघ में रहते हुए भी निरपेक्ष अकेलेपन की भावना एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। संघ में न रहे तो साधना का पथदर्शन कहां से मिले? निरपेक्षता न हो तो संघ दलों या वर्गों में विभक्त हो जाता है। विभाजन की मनोवृत्ति स्वार्थ की अभिप्रेरणा है। सापेक्ष-निरपेक्षता का यह प्रयोग संघ को शक्तिसंपन्न बनाने का प्रयोग है। यहां निरपेक्ष अकेलेपन का अर्थ यह नहीं है कि संघ में रहने वाले अन्य साधु-साध्वियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहे। पारस्परिक संबंधों के बिना संघीय जीवन की उपयोगिता भी नहीं है। निरपेक्षता का अर्थ है–गुट या दल में नहीं बंधना और किसी को अपना बनाने का प्रयत्न नहीं करना।

एक आचार्य का नेतृत्व, एक आचार्य का शिष्यत्व, दीक्षा आचार्य के नाम से, विहार-चातुर्मास आदि आचार्य की आज्ञा से, भावी आचार्य का निर्वाचन आचार्य के द्वारा, संघीय पुस्तकें तथा उपकरण आचार्य को निश्रा में आदि ऐसे संस्कार हैं, जिनके कारण तेरापंथ धर्मसंघ आचार्य-केन्द्रित धर्मसंघ बन गया। आचार्य भिक्षु ने ये संस्कार किसी व्यक्ति-विशेष को महत्त्व देने के लिए नहीं दिए। उनका उद्देश्य था–धर्मसंघों में बढ़ते जा रहे बिखराव से तेरापंथ को अप्रभावित रखना। उस दूरगामी चिन्तन का ही परिणाम है तेरापंथ की एकसूत्रता। एक आचार्य, एक सामाचारी और

तत्त्वनिरूपण की एक शैली–एकत्व की इस त्रिपदी में संगठन के सारे तत्त्वों का समावेश हो गया। गणधर गौतम ने तत्त्व की जिज्ञासा की। भगवान महावीर ने **उप्पणे इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा**–इन तीन वाक्यों में उन्हें समाहित कर दिया। वामनावतार ने तीन पगों में पूरी धरती माप ली। अगस्त्य ऋषि ने तीन अंजलियों में पूरे समुद्र को समाहित कर लिया। इसी प्रकार आचार्य भिक्षु ने उक्त त्रिपदी में संगठन के आधारभूत तत्त्वों को सन्निहित कर संघ-संचालन की दिशा में एक मौलिक दृष्टि का अवदान दिया।

विग्रह से बचने के तीन रास्ते

आचार्य भिक्षु की अनुभव-संपदा बहुत विस्तृत थी। वे जानते थे कि श्रद्धा और आचार की दुहाई देकर दलबन्दी की जा सकती है। दलबन्दी में अनुशासन और मर्यादा की उपेक्षा असंभव नहीं है। उस स्थिति में संगठन में सेंध लगाने का अवसर मिल सकता है। इस संभावना के आधार पर होने वाली तोड़फोड़ से संघ की सुरक्षा करने के लिए उन्होंने संविधान में एक धारा लिखी–श्रद्धा या आचार के बोल को लेकर गण में भेद न डालें। दलबन्दी न करें। आचार्य व बहुश्रुत साधु कहें वह मान लें, यदि वह तत्त्व बुद्धिगम्य न हो तो केवलिगम्य कर दें।

सबसे पहला तत्त्व है ज्ञान। किसी भी आलोच्य विषय में मतभेद हो तो अपने ज्ञान से समझने का प्रयास किया जाए। ज्ञान से समझ में न आए तो उस तत्त्व को श्रद्धा से स्वीकार करें। श्रद्धाशील व्यक्ति का चिन्तन यह होगा–मेरी समझ इतनी विकसित नहीं है। इसी कारण मैं तत्त्व की गहराई तक नहीं पहुंच पाया। मेरे गुरु ने अपने अनुभव और बहुश्रुत साधुओं की सहमति से विमर्शपूर्वक जो निर्णय दिया है, उसे स्वीकार करना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

ज्ञान और श्रद्धा-इन दोनों माध्यमों से चित समाहित न हो पाए तो एक तीसरा रास्ता है– **इदं तत्त्वं केवलिगम्यम्**–आलोच्य विषय मेरी

समझ में समायोजित नहीं हो रहा है, इसलिए मैं इसे केवलज्ञानी व्यक्ति पर छोड़ता हूं। यह ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा व्यक्ति के मन में उथल-पुथल मचाने वाले सन्देह रूप अश्वों की लगाम हाथ में आ जाती है। यह न धोखा है, न वंचना है और न हीन भावना है। इससे आग्रहमुक्त चेतना का विकास होता है, कुतर्कों के चक्रव्यूह से बाहर निकलने का सुख मिलता है और दलबन्दी करने का मनोभाव क्षीण होता है।

जिस धर्मसंघ में श्रद्धा या आचार के विषय में कोई मंतव्य स्थिर न हो, वह विकास के नए आयाम नहीं खोल सकता। आचार्य भिक्षु महान तत्त्ववेत्ता थे। वे आगमों के गंभीर अध्येता थे। उन्होंने जिनवाणी के आधार पर सैद्धान्तिक मान्यताओं की स्थापना की और उसी के आधार पर आचार की कसौटी प्रस्तुत की। श्रद्धा और आचार विषयक अपनी मौलिक स्थापनाओं के कारण उन्हें कठिन चुनौतियों से मुकाबला करना पड़ा। किन्तु वे कभी स्वीकृत पथ से पीछे नहीं हटे । इस क्षेत्र में समय-समय पर कुछ नई बातें भी उभरकर सामने आती रहीं। कभी-कभी स्थितियां काफी जटिल भी हुईं। किन्तु आचार्य भिक्षु द्वारा सुझाए गए तीनों रास्ते इतने प्रशस्त हैं कि श्रद्धा और आचार के विषय में उठे हुए नए बोल के कारण उन्हें या उनके उत्तरवर्ती आचार्यों को कहीं रुकना नहीं पड़ा।

दोषों को न छिपाएं और न फैलाएं

संघ में साधना करने वाले साधु-साध्वियां वीतराग नहीं होते, मर्यादा और अनुशासन की अपेक्षा इसीलिए है। सब साधक वीतराग हों तो मर्यादाएं कृतार्थ हो जाती हैं और अनुशासन अकिंचित्कर बन जाता है। अवीतराग अवस्था में प्रमाद की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रमाद का प्रतिकार और परिष्कार जरूरी है। इस दृष्टि से संविधान की एक धारा है—किसी साधु-साध्वी में दोष जान पड़े तो तत्काल उसे या आचार्य को जता दें, किन्तु उसका प्रचार न करें। दोषों

को चुन-चुनकर इकट्ठा न करें। दीषों की उपेक्षा करने से उनको प्रोत्साहन मिलता है और उनकी जड़ें मजबूत होती हैं। दोषों को फैलाने से व्यक्ति का सुधार तो होता ही नहीं है, संघ की गरिमा पर भी आंच आती है। इसलिए बीच का रास्ता निर्धारित किया गया। दोषों को न छिपाएं और न फैलाएं–इसका फलित होता है कि उपयुक्त स्थान पर उनकी जानकारी दी जाए। आचार्य से बढ़कर दूसरा उपयुक्त स्थान और क्या हो सकता है।

इस युग में एक नई संस्कृति पनप रही है–खामोशी की संस्कृति, चुप्पी–की संस्कृति। कोई व्यक्ति कुछ भी करे, गलत करे या सही, उसे दूसरा कुछ कहने वाला नहीं है। किसी की गलत प्रवृत्ति देखकर प्रतिकार के प्रसंग में व्यक्ति सोचता है–किसी की गलती बताकर मैं कोपभाजन क्यों बनूं? सम्बन्ध क्यों बिगाड़ूं? कोई गलती करता है तो मेरा क्या बिगड़ेगा? मैं बिना मतलब सिरदर्द क्यों मोल लूं? यह स्वस्थ परंपरा नहीं है। इससे प्रमाद के परिमार्जन का रास्ता बन्द हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने इस सत्य का अनुभव किया। धर्मसंघ की निर्मलता के लिए उन्होंने साधु-साध्वियों को निर्देश दिया कि वे परस्पर एक-दूसरे की गलती देखें तो कालक्षेप किए बिना उचित तरीके से उसे बता दें। बहुत समय के बाद गलती बताने का भी कोई औचित्य नहीं है। गलतियों को चुन-चुनकर इकट्ठा करना और आपसी मतभेद उभरने के बाद उन्हें प्रकट करना–यह सिद्धान्त भी नीतिसम्मत नहीं है।

इस सन्दर्भ में कुछ व्यक्ति निष्पक्ष नहीं रह पाते। उन्हें अपने निकट या अनुकूल रहने वाले व्यक्ति की गलती कभी गलती प्रतीत नहीं होती। कदाचित् वैसी प्रतीति हो भी जाए तो उसे छिपाने का प्रयास होता है। दूसरे व्यक्ति की छोटी-सी भी गलती उन्हें बहुत बड़ी दिखाई देती है और वे उसे बढ़ा-चढ़ा कर प्रकट करते हैं। आचार्य भिक्षु ने इस नीति को मान्य नहीं किया। उन्होंने श्रावकों को भी यह अधिकार दिया कि साधु-साध्वियों की कोई गलती उनके ध्यान में आए तो वे उसे अनदेखी

न करें। संबंधित साधु-साध्वियों को सजग करें और उसकी जानकारी आचार्य तक पहुंचा दें।

तेरापंथ के वर्तमान अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी का अभिमत है–तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियों द्वारा गलती हो सकती है, पर वह चल नहीं सकती। जब भी किसी की गलती सामने आती है, तत्काल उसका उचित ढंग से प्रतिकार किया जाता है। प्रतिकार के अभाव में वह एक व्यक्ति से दूसरे में संक्रान्त होती हुई अन्य गलतियों को भी सहारा देती रहती है। तेरापंथ का इतिहास साक्षी है, यहां समय-समय पर सभी आचार्यों के युग में यथावश्यक अनुशासनात्मक कार्यवाहियां होती रही हैं। प्रतिबोध, उपालंभ, कड़ी डांट, प्रायश्चित, कड़ी नजर और संघ-विच्छेद तक की स्थितियां उन कार्यवाहियों के अन्तर्गत हुई हैं । इससे संबंधित व्यक्ति को अपनी वृत्तियों के परिष्कार का अवसर मिलता है और संघ के अन्य सदस्यों को जागरूक रहने की प्रेरणा मिलती है। परिवार, समाज और राजनीतिक दलों में भी दोषों के परिष्कार का यह उपक्रम प्रचलित रहे तो नीतिगत विकृतियों को रोका जा सकता है।

वंचना का परिहार

जिस डाल पर बैठना, उसी को काटने का प्रयास करना, मूढ़ता का लक्षण है। जिस संघ में साधना करना, उसके बारे में संदिग्ध रहना– यह भी एक प्रकार की मूढ़ता है। संघ की नीतियों पर आस्था न हो तो वहां रहने से क्या लाभ? आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि आस्था न होने पर भी किसी धर्मसंघ में रहना, यह सोचकर रहना कि इच्छा होगी तब तक रहेंगे, बाद में संघ छोड़ देंगे–बहुत बड़ी छलना है। इस नीति से संघ में खोखलापन आता है। इस दृष्टि से उन्होंने एक मर्यादा बनाई– गण में शुद्ध साधुपन सरधे, वह गण में रहे, किन्तु छल, कपटपूर्वक गण में न रहे। जिसका मन साक्षी दे, भलीभांति साधुपन पलता जाने, गण में तथा अपने आप में साधुपन माने तो गण में रहे। किन्तु वंचनापूर्वक गण में न रहे।

व्यक्तिगत दुर्बलता, अनुशासनहीनता, सुविधावाद, आचार में आई शिथिलता, महत्त्वाकांक्षा आदि किसी भी कारण से संघ से मुक्त होने वाले या किए जाने वाले व्यक्ति स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए संघ पर दोषारोपण कर सकते हैं। यह भी कह सकते हैं कि संघ में साधना ही नहीं है। ऐसे व्यक्तियों के निरंकुश प्रलाप को संविधान की उक्त धारा कीलित कर सकती है। यदि संघ में साधना का अवकाश ही नहीं था तो इतने समय तक वहां रहकर वंचना क्यों की ? साधना में सहयोगी बनने वाले संघ के प्रति आस्था में छेद होगा तो व्यक्ति संघीय व्यवस्थाओं के प्रति जागरूक कैसे रह पाएगा?

एकतंत्र और जनतंत्र का समीकरण

तेरापंथ और अनुशासन–दोनों को एक-दूसरे का पर्याय माना जा सकता है। जहां अनुशासन, वहां तेरापंथ। अनुशासन नहीं तो तेरापंथ नहीं। अनुशासन पतंग की डोर है। वह जब तक हाथ में रहती है, अनुशासित व्यक्ति पर नियंत्रण किया जा सकता है। डोर कटने के बाद पतंग का पतन अवश्यम्भावी है। अनुशासन की डोर छूटने के बाद स्वच्छन्दता को रोकना कठिन हो जाता है। जहां हर व्यक्ति अपना नेता बनना चाहे, वहां अनुशासन की बात नहीं चल सकती। आचार्य भिक्षु ने संघीय जीवन में अनुशासन के अभाव में व्यवस्थापक्ष ठीक नहीं रह सकता। जहां अनुशासन नहीं होगा, वहां अनेक प्रकार की लिप्साएं पनपेंगी। वे यह भी जानते थे कि किस व्यक्ति को कब कहा जाए? और कब सहा जाए? उन्होंने अपने संघ की बुनियाद में श्रद्धा, समर्पण जैसे तत्त्वों को सन्निहित किया। पर श्रद्रा के साथ चलने वाले तर्क तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया। तर्कप्रवण श्रद्रा और श्रद्धाप्रवण तर्क की धरती पर अनुशासन के प्रयोग सफल हो सकते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ में एक आचार्य का नेतृत्व है, फिर भी यहां एकतंत्र शासन प्रणाली नहीं है। नेता के निर्वाचन में मतदान की परम्परा नहीं है,

इसलिए जनतंत्र भी नहीं है। संघ में आचार्य का स्थान सर्वोपरि होता है और संघ के प्रत्येक सदस्य को वैचारिक अभिव्यक्ति की पूरी स्वतंत्रता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि तेरापंथ धर्मसंघ में एकतंत्र और जनतंत्र का समीकरण है। उसे कोई नाम देना हो तो अध्यात्मतंत्र यह नाम दिया जा सकता है। नेता का निष्पक्ष वात्सल्य और शिष्य का अनौपचारिक समर्पण–इन दोनों का समन्वित रूप ही तेरापंथ का अनुशासन है।

नेतृत्व के संस्कार

नेतृत्व के तीन रूप हो सकते हैं–नैसर्गिक, अर्जित और आरोपित। जिन व्यक्तियों में नैसर्गिक नेतृत्व के गुण होते हैं, उन्हें इस क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए विशेष प्रशिक्षण लेने की अपेक्षा नहीं रहती। बचपन से ही उनमें ऐसे गुण प्रकट होने लगते हैं। उनके लिए जो समय खेलकूद और मौजमस्ती का होता है, उसमें वे परिपक्व अंदाज से सोचने लगते हैं। परिवार में कोई भी घटना घटती है, वे अनायास ही उससे प्रभावित हो जाते हैं। कुछ बच्चे अपने खेल के लिए ऐसे विषय का चयन करते हैं, जो उनकी नेतृत्व विषयक अभिरुचि को अभिव्यक्ति दे देते हैं।

बादशाह की बेगम ने अपने श्यामवर्ण वाले शाहजादा की एक पिंजारिन के सुन्दर और गौरवर्ण वाले पुत्र से अदला-बदली कर ली। शाहजादा के शरीर में राजपरिवार का रक्त था। उस रक्त में नेतृत्व के कण थे। वह साधारण घर में साधारण बच्चों के साथ रहा फिर भी उसके मौलिक गुण आवृत नहीं हुए। अपनी किशोरावस्था में वह साथियों के साथ खेलते समय राजदरबार के दृश्य को मंचित करने का अभिनय करता। उसमें उसकी भूमिका बादशाह की रहती थी।

उधर पिंजारिन का बेटा शाही ठाटबाट में पला। किन्तु उसके संस्कारों में एक पिंजारा बैठा हुआ था। वह राजमहल में बैठा-बैठा कपास पींजने का अभिनय करता रहता। एक दिन बादशाह ने दोनों बालकों के क्रियाकलाप देखे। उसे आश्चर्य हुआ। एक पिंजारा बादशाह

की भूमिका में और शाहजादा पिंजारे की भूमिका में कैसे ? बादशाह के मस्तिष्क में एक साथ सैकड़ों बिजलियां कौंध उठीं। उसने म्यान से तलवार खींची और बेगम से प्रश्न किया– 'बेगमसाहिबा! यह शाहजादा कौन है?' बादशाह का तेवर देख बेगम हड़बड़ा गई। एक बार तो उसने यथार्थ से परदा नहीं उठाया। किन्तु बादशाह के हाथ में तलवार देख वह कांप उठी। उसने सारा सच उगल दिया।

एक बादशाह और एक पिंजारे के पुत्रों की अदला-बदली का यह किस्सा दो तथ्यों को उजागर करता है–

१. ऊपर के सौन्दर्य पर अटकने वाला व्यक्ति मौलिकता को खो देता है।
२. किसी भी वातावरण में व्यक्ति अपने नैसर्गिक वैशिष्ट्य को बचाकर रख लेता है।

जिन लोगों में नैसर्गिक नेतृत्व की क्षमता होती है, वह उचित अवसर मिलते ही अभिव्यक्त हो जाती है।

कुछ व्यक्ति प्रारंभ में साधारण-से प्रतीत होते हैं। उनमें किसी प्रकार की विशेषता परिलक्षित नहीं होती। पर गहरी निष्ठा और पुरुषार्थ से उनके नेतृत्व में निखार आ जाता है। ऐसे व्यक्ति नेतृत्व की क्षमता भी अर्जित कर सकते हैं। आरोपित नेतृत्व कभी कार्यकारी नहीं हो सकता। नेतृत्व प्राप्त करने की प्रक्रिया, जनमत-संग्रह हो या पारिवारिक परम्परा, क्षमता के अभाव में वह सदा आरोपित-सी ही रहेगी। वोटों के गलियारे से सत्ता के सिंहासन पर कोई भी पहुंच सकता है। वहां योग्यता का एकमात्र मानक है वोट। राजशाही परंपरा में भी ज्येष्ठ पुत्र को राजा का सम्मत उत्तराधिकारी माना जाता था। उक्त दोनों ही परम्पराओं से सत्ता संभालने वाला व्यक्ति संयोगवश योग्य भी हो सकता है। यदि वह योग्य होता है तो उसके नेतृत्व में राष्ट्र के विकास की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु वह योग्य न हो तो भी जनता उसे अपने अधिकार से वंचित नहीं कर सकती। इस आरोपित नेतृत्व के आगे लगे प्रश्नचिह्न का उत्तर किसके पास है?

नेतृत्व के घटक तत्त्व

आचार्य भिक्षु के व्यक्तित्व में नेतृत्व के गुण स्वाभाविक रूप में विकसित थे। एक नेता में सामान्यत: जो गुण होने चाहिए, उनकी एक छोटी-सी सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है–

१. उदात्त चरित्र;
२. निष्पक्षता–रागद्वेष मुक्त तीसरी दृष्टि का विकास ;
३. निर्णायक क्षमता, दूरदर्शिता और साहस;
४. समूह को साथ में लेकर चलने का दृष्टिकोण;
५. अधीनस्थ व्यक्तियों को उनकी रुचि और योग्यता के अनुरूप कार्य में नियोजित करने की कला;
६. कठोरता और कोमलता से समन्वित अनुशासन करने की क्षमता;
७. प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सन्तुलित रहने की क्षमता;
८. महत्त्वाकांक्षी योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन की क्षमता;
९. सिद्धान्त पर दृढ़ता, किन्तु विचारों में लचीलापन।

उक्त क्षमताओं को पोषण देने वाली कुछ और विशेषताएं भी हो सकती हैं। आचार्य भिक्षु के जीवन का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि नेतृत्व के विषय में जिन बिन्दुओं की यहां चर्चा की गई है, वे उनमें पूरे निखार पर थे, इसी कारण वैसी विषम परिस्थितियों में उनका नेतृत्व सफल हो सका।

आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति तेरापंथ नाम से इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज बन गई। इस इतिहास के निर्माण में विरोधी लोगों द्वारा जो संघर्ष उपस्थित किए गए, वह एक लोमहर्षक कहानी है। इन संघर्षों को बाह्य संघर्ष कहा जा सकता है। उनके युग में आंतरिक संघर्षों का सिलसिला भी बहुत लम्बा चला। आन्तरिक संघर्ष का संबंध आचार्य भिक्षु के शिष्य वर्ग द्वारा उपस्थित किए गए संघर्षों से है। उनमें एक कथा मुनि तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी द्वारा किए गए विद्रोह की है। उनका विद्रोही स्वभाव आचार्य भिक्षु से छिपा नहीं था। उन्हें विद्रोह का

अवसर नहीं मिले और उनकी साधना निर्विघ्न रूप से चलती रहे, इस दृष्टि से आचार्यश्री ने उनको बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने मुनि भारीमालजी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया, तब संघ की सुव्यवस्था के लिए 'मर्यादापत्र' लिखा। उसमें उन्होंने उक्त दोनों साधुओं को अधिमान देते हुए भावी आचार्य को निर्देश दिया कि वे तिलोकचन्दजी, चन्द्रभाणजी आदि बुद्धिमान साधुओं के परामर्श से कार्य करें।

आचार्य भिक्षु ने तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी को इतना महत्त्व दिया, फिर भी मुनि भारीमालजी की युवाचार्य पद पर नियुक्ति होने के बाद वे भीतर-ही-भीतर विद्रोही बन गए। उन्होंने कई साधुओं को भी दिग्भ्रमित कर दिया। वे अपने अभियान को और अधिक तीव्र करते, किन्तु आचार्यश्री ने उनके गलत मंसूबों को समझ लिया। उनके पास सत्य का बल था। उनका पक्ष यौक्तिक था। उन्होंने एक-एक कर दिग्भ्रान्त हुए सब साधुओं को ठीक कर लिया। तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी का पक्ष कमजोर पड़ गया। एक बार वे आचार्यश्री के अनुकूल दिखाई दिए। किन्तु कालान्तर में फिर अंतरंग तोड़फोड़ में सक्रिय हो गए। उस दुर्नीति के कारण आचार्य भिक्षु ने उनको संघ से निष्कासित कर दिया।

एक ओर जिन साधुओं का इतना अधिमान, दूसरी ओर उनका संघ से संबंध-विच्छेद। विद्वान और प्रभावशाली साधु संघ से अलग होकर समस्या खड़ी कर देंगे, श्रावक समाज को तोड़ लेंगे या गांव-गांव में अवर्णवाद बोलेंगे—इस प्रकार की आशंका से वे विचलित नहीं हुए। संघ हित की दृष्टि से उन्हें जो उचित लगा, वही किया। नेतृत्व की इस कसौटी पर वे शत-प्रतिशत खरे उतरे।

संख्या से अधिक मूल्य गुणवत्ता का

आचार्य भिक्षु कुशल अनुशास्ता थे। उनके अनुशासन-कौशल पर बहुआयामी शोध का पूरा अवकाश है। नया संघ, नए लोग, विरोधी

वातावरण, चारों ओर से सैद्धान्तिक आक्रमण, दूसरे-दूसरे सम्प्रदाय से आकर मिले साधुओं की स्वच्छन्द मनोवृत्तियां और जीवन-यापन के लिए अनिवार्य आवश्यकता का अभाव। उन विषम परिस्थितियों में भी आचार्य भिक्षु अकम्प रहे। अन्य धर्मसंघों की अंतरंग स्थितियों से वे संतुष्ट नहीं थे। आचार के सन्दर्भ में शिथिलता की बात उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। साधु-साध्वियों की संख्या कम होने पर भी उन्होंने संख्या-वृद्धि के लिए कभी आचार को गौण नहीं किया।

चंडावल की घटना है। फत्तूजी आदि पांच साध्वियों से आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम्हें वस्त्र की जरूरत हो तो ले लो। उन्होंने जरूरत बताई। जितना वस्त्र मांगा, उतना दे दिया गया। आचार्य भिक्षु संभवतः चेहरा देख कर मन के भाव जान लेते थे। उनके मन में शंका उत्पन्न हुई कि साध्वियों के पास वस्त्र मर्यादा से अधिक होना चाहिए। साध्वियों से पूछा गया तो उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया। आपने उसी समय मुनि अखेरामजी को साध्वियों के स्थान पर भेजा और उनके वस्त्र मंगवाकर उनका माप किया। वस्त्र मर्यादा से अधिक थे। आचार्य भिक्षु ने साध्वियों को कड़ा उपालम्भ दिया। भविष्य में वे साध्वियां वस्त्र आदि की मर्यादा के प्रति जागरूक रह पाएंगी, ऐसा विश्वास न होने के कारण पांचों साध्वियों का एक साथ संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। आचार के क्षेत्र में स्वयं जागरूक रहने वाले व्यक्ति ही दूसरों पर इस प्रकार की अनुशासनात्मक कार्यवाही करने में सफल हो सकते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयोग

आचार्य भिक्षु ने मनोविज्ञान का विधिवत अध्ययन नहीं किया। फिर भी वे महान मनोवैज्ञानिक थे। मनुष्य के मन को समझना और समझाना—दोनों ही काम कठिन हैं। आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को जिस ढंग से प्रतिबोध दिया, लगता है वे महान् मनोवैज्ञानिक थे। बात यों हुई—

मुनि वेणीरामजी ने आचार्य भिक्षु से कहा–'हिंगुल से पात्र नहीं रंगने चाहिए।' आचार्य भिक्षु पात्र रंगने में कोई दोष नहीं मानते थे। उन्होंने सोचा–इसे सही बात भी कही जाएगी तो अभिनिवेश के कारण सम्यक् प्रतीति नहीं होगी। इस दृष्टि से आपने कहा–'वेणीराम ! मेरी निश्रा के पात्र तो रंगे हुए हैं। तुम्हें शंका हो तो तुम अपनी निश्रा के पात्र मत रंगना।' यह बात सुन मुनि वेणीरामजी बोले–'मैं अपने पात्र खपरेल से रंगने का विचार रखता हूं।' आचार्य भिक्षु ने पूछा–'तुम खपरेल लेने जाओगे, तब यदि पहले पीले रंग का कच्चा खपरेल दिखाई दे और उससे कुछ आगे लाल रंग का पक्का खपरेल दिखाई दे, तो तुम कौन-सी लोगे ?'

मुनि वेणीरामजी ने कहा–'उनमें से तो लाल रंग वाला पक्का खपरेल ही लूंगा।' आचार्य भिक्षु निष्कर्ष की भाषा में बोले–'तुम्हारी भावना तो अच्छा रंग खोजने की ही रही। खपरेल में अच्छा रंग खोजते हो तो मूल रंग में कौन-सी बाधा है ?' मुनि वेणीरामजी अपने मन में आए भावों के उतार-चढ़ाव का अनुभव कर रहे थे हिंगुल, लाल खपरेल और पीले खपरेल की तरह उनके मानसिक रंग भी गहरे और हलके हो रहे थे। उन क्षणों में आचार्य भिक्षु ने उनको समझाया। वे समझ गए। हिंगुल से पात्र रंगने या न रंगने के बारे में उनका आग्रह समाप्त हो गया।

कोटा वाले आचार्य दौलतरामजी के सम्प्रदाय के चार साधुओं ने आचार्य भिक्षु के पास पुनः दीक्षा ग्रहण की। उनमें से एक साधु छोटे रूपजी बोले–'भोजन में ठंडी रोटी मुझे रुचिकर नहीं लगती।' सामूहिक जीवन में बिना विशेष कारण किसी एक व्यक्ति को इस प्रकार की छूट देने से दूसरों की मानसिकता भी बदल सकती है। आचार्य भिक्षु मनुष्य की इस दुर्बलता से परिचित थे। उन्होंने भोजन के संविभाग का दायित्व स्वयं पर लिया। प्रत्येक ठंडी रोटी पर एक-एक लड्डू रखकर उन्होंने कहा–'जो ठंडी रोटी छोड़े, वह लड्डू भी छोड़े जो गरम रोटी लेगा, उसके विभाग में लड्डू नहीं आएगा।'

ठंडी और गरम की चर्चा समाप्त हो गई। दीक्षा-पर्याय के क्रम से सब साधुओं ने अपना विभाग ले लिया। इस प्रसंग में ठंडी रोटी को अस्वीकार करने वाले साधु को ठंडी रोटी खाने के लिए बाध्य किया जाता तो बात बढ़ने की संभावना थी। यदि उन्हें गरम रोटी ही देने की बात स्वीकृत कर ली जाती तो कुछ अन्य साधु भी ठंडी रोटी खाने से इनकार कर देते। उस समय पेट भरने के लिए पर्याप्त भोजन मिलना ही कठिन था। उसमें भी ठंडे और गरम का विवाद खड़ा रहने दिया जाता तो प्राप्त भोजन का उपयोग करते समय शान्ति और प्रसन्नता को विदा करना जरूरी हो जाता। आचार्य भिक्षु ने ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया कि किसी के द्वारा कुछ कहने का अवसर ही नहीं आया।

दो और दो-चार जैसा समाधान

आचार्य भिक्षु उन दिनों पादू में प्रवास कर रहे थे। वहां एक भाई ने कहा–'हेमजी स्वामी की चादर प्रमाण से बड़ी लग रही है।' यह बात आचार्य भिक्षु के कानों तक पहुंची। साधु चादर, चोलपट्टा आदि उपकरण लेते हैं तो आचार्य स्वयं अपने हाथ से उसका माप करते हैं। संभवत: वह चादर भी आचार्य भिक्षु द्वारा मापी हुई थी। फिर भी उन्होंने चादर बड़ी होने का आरोप लगाने वाले भाई से कुछ नहीं कहा। मुनि हेमराजजी को अपने पास बुलाया। लम्बाई और चौड़ाई–दोनों ओर से चादर का माप करके उस भाई की दिखा दिया। वह प्रमाणोपेत थी।

आचार्य भिक्षु ने उस भाई को उपालम्भ देते हुए कहा–चार अंगुल वस्त्र के लिए कोई साधु अपना साधुपन क्यों खोएगा? क्या तुम हमें इतने भोले समझ रहे हो? तुम्हें साधुओं की इतनी ही प्रतीति नहीं है? यदि कोई साधु मार्ग में सजीव जल पी ले या और कुछ कर ले तो तुम उसके पीछे कहां-कहां जाओगे?' भाई को अपनी भूल का अहसास हो गया। उसने बद्धांजलि होकर निवेदन किया–'स्वामीजी ! मुझे व्यर्थ ही संदेह हो गया, आप क्षमा करें।'

एक दिन सन्ध्या के समय श्रावक विजयचन्दजी पटवा सामायिक और प्रतिक्रमण करने के लिए साधुओं के स्थान पर गए। आकाश मेघाच्छन्न था। दिन कितना शेष है, इसका पता नहीं चल रहा था। विजयचन्दजी ने आचार्य भिक्षु से निवेदन किया–महाराज ! दिन कम है। आप पानी पी लें और करणीय काम पूरे कर पानी चुकता कर दें।'

आचार्य भिक्षु को ज्ञात था कि उस समय तक दिन काफी शेष था। फिर भी उन्होंने श्रावकजी के कथन का प्रतिवाद नहीं किया। उन्होंने पानी पिया, साधुओं की पिलाया और पानी चुकता कर दिया। कुछ समय बाद धूप निकली। दिन काफी शेष था। आचार्य भिक्षु ने विजयचन्दजी को लक्ष्य बनाकर कहा–'साधुओं को रात्रि में पानी पीना नहीं है। गृहस्थ के रात्रि में पानी पीने का त्याग नहीं होता। इसलिए वे रात में पानी पी लेते हैं। उन्हें क्या पता प्यास का परिषह कैसा होता है?'

यह बात सुन विजयचन्दजी आचार्य भिक्षु के चरणों में प्रणत होकर बोले–'स्वामीजी ! आप अवसर के जानकार हैं, पर मुझे उसका पता नहीं चला।' आचार्य भिक्षु अनुमान और अनुभव से जानते थे कि उस समय सूर्यास्त होने में काफी समय शेष था। फिर भी उन्होंने एक श्रावक के निवेदन पर तत्काल पानी का काम निपटा दिया। किन्तु जब सूरज की धूप निकल आई तब हाथ कंगन को आरसी क्या? इस कहावत को चरितार्थ करते हुए श्रावकजी को प्रतिबोध दे दिया। दो और दो–चार जैसा समाधान मिल गया।

अनुशासन के दो रूप

आचार्य भिक्षु एक नए धर्मसंघ का संचालन कर रहे थे। प्रत्येक साधु-साध्वी के आचरण की तटस्थ समीक्षा कर उन्हें उपयुक्त दिशादर्शन देना उनका काम था। उनकी हर प्रवृत्ति पर वे नजर रखते थे। उनके अनुशासन का तरीका विलक्षण था। कभी वे मधुरता से समझाते, कभी कठोर रूख अपनाते, कभी मौन रहते, कभी यौक्तिक ढंग से बात गले

उतार देते, कभी बिना कोई भूमिका बांधे सामने वाले को त्याग कराते और कभी स्वयं त्याग कर देते। आचार-व्यवहार एवं संघीय मर्यादाओं के विषय में विशेष प्रमाद होने पर वे संघ सम्बन्ध-विच्छेद तक कर देते थे। प्रस्तुत संदर्भ में ऐसे कुछ प्रसंगों की चर्चा की जा रही है–

तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी–इन दो साधुओं का आचार्य भिक्षु ने संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया। वे अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए थली प्रदेश में गए। मुनि वेणीरामजी ने आचार्यश्री से निवेदन किया–मैं थली प्रदेश में जाऊं, और चन्द्रभाणजी से चर्चा करूं।'

आचार्य भिक्षु बोले–'तुम्हें उनसे चर्चा करने का त्याग है।' आचार्य भिक्षु ने तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर समझ लिया कि वह समय चन्द्रभाणजी से चर्चा करने के लिए उपयुक्त नहीं है। इसके साथ यह भी जान लिया कि उक्त बात मुनि वेणीरामजी के गले उतारनी संभव नहीं है। अनुपयुक्त और असंभव काम में समय लगाने का औचित्य क्या होता? इस दृष्टि से उन्होंने तर्क में न जाकर सीधा त्याग करा दिया।

दूसरी घटना नाथद्वारा की है। गुजरात के एक अन्य सम्प्रदाय का साधु जिसका नाम था सिंघजी, आचार्य भिक्षु के पास आकर दीक्षित हुआ। कुछ समय तक वह ठीक रहा। फिर अनुभव हुआ कि वह योग्य नहीं है। उसका संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। वह मांढा गांव चला गया।

मुनि खेतसीजी ने आचार्य भिक्षु से निवेदन किया–'आप सिंघजी को प्रायश्चित देकर पुनः संघ में लें। मैं जाकर उसे ले आता हूं।' आचार्य भिक्षु उसकी गतिविधियों से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा–वह पुनः संघ में लेने योग्य नहीं है।' आचार्य भिक्षु द्वारा मनाही करने पर भी मुनि खेतसीजी उसके प्रति अनुकंपित होकर उसे लाने के लिए कमर कसकर तैयार हो गए।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासनात्मक कार्यवाही करते हुए कहा–'यदि तुमने उसके साथ आहार किया तो तुम्हारे साथ हमें आहार करने का

त्याग है।' इस चेतावनी के बाद मुनि खेतसीजी के कदम रुक गए। उन्होंने मांढा जाने का विचार छोड़ दिया।

बीमार के लिए पथ्य

समूह में सब प्रकार के व्यक्ति होते हैं। प्रबुद्ध, चिन्तक, लेखक, कवि, प्रवक्ता, कलाकार और सेवाभावी व्यक्तियों से समूह की शोभा और उपयोगिता में वृद्धि होती है तो साधारण स्तर के व्यक्तियों का महत्त्व भी कम नहीं है। भवन के निर्माण में बड़े-बड़े पाषाण, शिलाएं, ईंटें, चूना, सीमेंट आदि उपयोगी होते हैं तो छोटे-छोटे कंकरों और मिट्टी का भी अपना मूल्य है। संघबद्ध साधना करने वाले साधकों की साधना, चर्या, अपेक्षाओं आदि को ध्यान में रखना आचार्य का दायित्व है। प्राचीन परंपरा के अनुसार संघ के व्यवस्था पक्ष की जिम्मेदारी आचार्य पर नहीं रहती थी। **गणतत्तिविप्पमुक्को**–गण की सब चिन्ताओं से मुक्त रहकर अपने शिष्यों का आगमों का अर्थयात्रा में सहयोग करना अथवा प्रवचन करना आचार्य का काम है। इस अवधारणा का प्रारंभ कब हुआ? और इस पर विराम कब लगा? ऐतिहासिक दृष्टि से खोज का विषय है।

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि सात पदों की व्यवस्था में आचार्य के महत्त्वपूर्ण किन्तु सीमित दायित्व की बात समझ में आती है। किन्तु आचार्य भिक्षु ने सब पदों का कार्यभार एक आचार्य में सन्निहित कर दिया। उस स्थिति में प्रवचन, प्रशासन, प्रशिक्षण और परिचर्या तक के कार्यों की व्यवस्था का दायित्व आचार्य पर आ गया। आचार्य भिक्षु बीमार साधुओं के लिए दाल मंगाते और वह दो तरह की आ जाती तो उसे अलग-अलग रखते। कोई दाल तीखी होती, कोई कड़ुवी होती। बीमार के लिए कौन-सी रुचिकर होगी, कौन-सी रुचिकर नहीं होगी–इस जानकारी तक वे उसे मिलाकर एक नहीं करते। इस प्रकार आचार्य भिक्षु अपने दायित्व के प्रति पूरी तरह से जागरूक रहते। दायित्व-प्रतिबद्धता के कारण उनको छोटी-छोटी बातों में भी अनुशासन का प्रयोग करना पड़ा।

वि. सं. १८५६ का प्रसंग है। अस्वस्थता के कारण आचार्य भिक्षु ने लगभग तेरह महीनों तक नाथद्वारा में प्रवास किया। वहां मुनि हेमराजजी गोचरी गए। वे चने और मूंग की दाल मिलाकर ले आए। आचार्य भिक्षु ने उसे देखकर पूछा–चने और मूंग की दाल इकट्ठी किसने की?' मुनि हेमराजजी बोले–'यह मैं लाया हूं।' आचार्य भिक्षु को उनका वह कार्य प्रमादपूर्ण लगा। उन्होंने उपालंभ के लहजे से कहा–'बीमार साधुओं के लिए चेष्टापूर्वक अलग-अलग दाल लाने की बात तो कहीं रही, पर जो अलग-अलग थीं, उन्हें तुमने इकट्ठे क्यों किया ?' मुनि हेमराजजी ने निवेदन किया–'अनजान में ये इकट्ठी हो गईं।'

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि उक्त प्रसंग में मुनि हेमराजजी द्वारा प्रमाद हुआ है। उन्होंने मुनि हेमजी को सचेत किया। इसकी उनके मन पर प्रतिक्रिया हुई। वे उदास हो गए और एकान्त स्थान में जाकर लेट गए। भोजन के समय वे उपस्थित नहीं थे। आचार्य भिक्षु ने सहज ही उनकी मन:स्थिति का अनुमान लगा लिया। प्रतिक्रिया की स्थिति में कोई बात कहने से उलटी प्रतिक्रिया भी संभव है। इसलिए उस समय वे मौन रहे। भोजन से निवृत्त हो आचार्य भिक्षु उनके निकट जाकर बोले-'अपनी आत्मा के अवगुण देख रहे हो या मेरे?'

मुनि हेमराजजी के चिन्तन को नई दिशा मिली। उन्होंने विनम्रभाव से कहा–'स्वामीजी ! अवगुण तो अपने ही देख रहा हूं।' आचार्य भिक्षु ने अपने अनुशास्ता स्वरूप को गुरु के रूप में परिणत कर वात्सल्य उंडेलते हुए कहा–'उठो, आहार कर लो। आज के बाद सावधान रहना।'

भाई-भतीजावाद से मुक्त अनुशासन

आचार्य भिक्षु के अनुशासन में उनकी निष्पक्ष वृत्ति का स्पष्ट दर्शन होता है। उनसे प्रतिकूल वर्तन करने वाले साधुओं के लिए उन्होंने जैसा कठोर अनुशासन नहीं किया, वैसा अपने प्रिय-कृपापात्र एवं संभावित उत्तराधिकारी शिष्य मुनि भारीमालजी पर किया। उस समय मुनि

भारीमालजी बालक साधु थे। आचार्य भिक्षु ने उनसे कहा–'भारीमाल ! कोई गृहस्थ खामी बताए, ऐसा काम तुझे नहीं करना चाहिए। गृहस्थ खामी बताए, वैसा काम यदि तू करेगा तो तुझे एक तेले का प्रायश्चित करना होगा।' मुनि भारीमालजी ने आचार्यश्री की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए जिज्ञासा की–गुरुदेव! कोई द्वेषवश बिना ही गलती किए गलती बतला दे तो?' आचार्य भिक्षु बोले–'यदि कोई झूठमूठ खामी बतलाए तो समझ लेना कि पहले किए हुए पाप उदय में आए हैं। पर तेला तो करना ही होगा।'

मुनि भारीमालजी इतने विनीत थे कि बिना किसी प्रतिवाद के शुरू के वचन स्वीकार कर लिए। वे अपने जीवन में इतने सजग रहे कि किसी को उनकी गलती बताने का अवसर ही नहीं मिला। एक अभिमत के अनुसार उन्होंने प्रायश्चित के रूप में एक तेला किया।

वर्तमान युग में भाई-भतीजावाद के संस्कार इतने बद्धमूल हो रहे हैं कि हर क्षेत्र में उनका प्रभाव देखा जा सकता है। जो व्यक्ति कुछ समय पूर्व इस नीति की आलोचना करता है, अवसर मिलते ही वह भी उसके प्रवाह में बह जाता है। सत्ता के सिंहासन पर आरूढ़ अनेक राजनेताओं के परिजन आज सवालों के घेरे में खड़े हैं। इस अपनेपन के व्यामोह में व्यक्ति अपने सिद्धांतों और नीतियों को भी तिलांजलि देने में संकोच नहीं करता। राष्ट्र की सेवा करने का व्रत परिवार या पार्टी की सेवा तक सीमित हो जाता है। अपने लोगों की बड़ी-बड़ी गल्तियों को दबा दिया जाता है और दूसरों की छोटी-छोटी भूलों को भी उछालने का प्रयास होता है। इसी प्रकार पारस्परिक विश्वास का लोप होता है और संशय के बिच्छू डंक लगाते रहते हैं।

अमुक व्यक्ति मेरा भाई है, पुत्र है, चाचा है, साला है, मैं उसे लाभ कैसे पहुंचाऊं ? उसे कैसे बचाऊं ? इस प्रकार संभ्रम के काले वलय में फंसा हुआ व्यक्ति समाज या राष्ट्र के हितों से आंखमिचौनी करता रहता है। पर यह नीति व्यक्ति को दीर्घकालीन सफलता नहीं दे सकती।

एक समय ऐसा आता है, जब व्यक्ति के संजोए हुए सपने बिखर जाते हैं। सत्य पर डाला हुआ आवरण किसी भी कारण से हटता है तो स्वेच्छाचार और अराजकता का किला भरभरा कर गिर पड़ता है। बावजूद इसके व्यक्ति अपने बचाव के लिए आसमान सिर पर उठा लेता है।

प्रश्न केवल राजनेताओं का नहीं है, शिक्षा, व्यवसाय, समाज और धर्म के क्षेत्र में भी भाई-भतीजावाद का खेल खुलकर खेला जा रहा है। आसक्ति के इस सघन अंधेरे में आचार्य भिक्षु के जीवन-प्रसंग आलोक दीप बनकर जगमगा रहे हैं। उन्होंने संघ की आचारनिष्ठ, नीतिनिष्ठ, सुव्यवस्थित और संगठित बनाए रखने के लिए अनेक प्रयोग किए। उन प्रसंगों को बार-बार पढ़ने से नई प्रेरणा मिल सकती है।

आचार्य भिक्षु जिनवाणी पर समर्पित थे। वे स्वयं आगमों का स्वाध्याय करते और अपने शिष्यों को प्रेरणा देते। कंठस्थ ज्ञान को स्थायी रखने का सबल माध्यम है स्वाध्याय। उनकी आकांक्षा थी कि सब साधु स्वाध्याय में रस लें। पूरे धर्मसंघ को प्रेरित करने के लिए उन्होंने एक बार मुनि भारीमालजी को निर्देश दिया–'तुम समग्र उत्तराध्ययन सूत्र का खड़े-खड़े पुनरावर्तन करो।' आज के विद्यार्थी होते तो शिक्षक के आदेश–निर्देश को उन्हीं पर लागू करते हुए कह देते–'पहले स्वयं खड़े होकर देखो।' पर मुनि भारीमालजी विचित्र व्यक्ति थे। उन्होंने आचार्यश्री के निर्देश को स्वीकार करते हुए अपनी समस्या प्रस्तुत की–गुरुदेव! कदाचित् नींद में नीचे गिर जाऊं तो?' आचार्य भिक्षु ने समस्या का समाधान सुझाते हुए कहा–'कोने का प्रमार्जन कर उसके सहारे खड़े रहो।' मुनि भारीमालजी ने आचार्यश्री के निर्देशानुसार अनेक बार खड़े-खड़े समग्र उत्तराध्ययन सूत्र का स्वाध्याय किया।

एक कड़ी कसौटी

आचार्य भिक्षु ने साध्वाचार में आए शैथिल्य को चुनौती देते हुए एक नया रास्ता लिया। उस यात्रा में उनके साथ कुछ साधु थे। तेरापंथ की स्थापना हुए चार वर्ष होने जा रहे थे। संघ में कोई भी साध्वी नहीं थी।

कुछ विरोधी लोग व्यंग्यबाण भी बरसाने लगे। किन्तु आचार्य भिक्षु ने अपनी हाजिरजबाबी से उनको निरूत्तर कर दिया। उन्हें एक क्षण के लिए भी यह चिन्ता नहीं हुई कि तीन तीर्थ–साधु, श्रावक, श्राविका के आधार पर उनके संघ को अधूरा बताया जा रहा है। वे संख्या पर नहीं, गुणवत्ता पर ध्यान देते थे। वि. सं. १८२१ में उनके पास पहली बार तीन महिलाएं दीक्षा की प्रार्थना करने आईं। तब तक आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ में किसी भाई-बहन को दीक्षित नहीं किया था। जितने साधु थे, वे सब अन्य सम्प्रदायों में दीक्षित थे। उन्होंने आचार्यश्री के साथ या उनके पास पुनः दीक्षा स्वीकार की थी।

गृहस्थ-जीवन से साधु-जीवन में प्रवेश की प्रार्थना का वह प्रथम प्रसंग था। संघ में साध्वियां थी नहीं, इसलिए उन्हें अविलम्ब दीक्षा देने की बात सोची जा सकती थी। उनकी कड़ी कसौटी न की जाए, यह चिन्तन उभर सकता था। किन्तु आचार्य भिक्षु ने उनसे स्पष्ट शब्दों में कहा–तुम तीनों साथ-साथ दीक्षित होने की बात कर रही हो। कदाचित् तीनों में से किसी एक का वियोग हो जाए तो तुम कैसे रह पाओगी? क्योंकि केवल दो साध्वियों का रहना सम्मत नहीं है। वैसी स्थिति होने पर तुम्हें संलेखना करनी होगी, समाधि मृत्यु की तैयारी के लिए तपस्या करनी होगी। अपने-अपने मन को तोल लो।'

आचार्य भिक्षु का उक्त निर्देश दीक्षार्थी बहनों में विभीषिका उत्पन्न करने के लिए नहीं था। वे अनुभवी अनुशास्ता थे। भविष्य में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित न हो, यह सोचकर उन्होंने महिलाओं से एक चुनौती भरा प्रश्न किया। वे महिलाएं भी विलक्षण थीं। उन्होंने उस चुनौती को झेला। संलेखना की बात स्वीकार की। तीनों बहनों की दीक्षा एक साथ हो गई। उसके बाद साध्वियों की संख्या उत्तरोतर बढ़ती गई, इसलिए पहली बार दीक्षित साध्वियों के सामने संलेखना का प्रसंग नहीं आया। पर आचार्य भिक्षु ने अपनी विशुद्ध नीति और अप्रतिम साहस से साध्वी-समाज का एक विशिष्ट इतिहास बना दिया।

तीसरी दृष्टि का उपयोग

कुछ व्यक्ति नेता या अनुशास्ता को प्रिय हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के कारण अप्रिय भी हो सकते हैं। प्रियता और अप्रियता के आधार पर न्याय नहीं होता। न्याय के क्षेत्र में साक्ष्यों, युक्तियों और व्यवहारों को आधार बनाया जाता है। कुछ और भी बातें आवश्यक मानी गई हैं–

प्रथम अकल बहु होय, लोभ मन रती न राखै,
भय न जबर को करै, दीन-खल दया न दाखै,
शत्रुन को उर आण, शत्रु को शत्रु न मानै,
मित्रन को उर आण, मित्र को मित्र न जानै,
आलस न करै नृप एक छिन, सबै कसर प्रमु माफ की,
प्रताप बढ़ै निश्चै। किंयां सात बात इन्साफ की।।

राजा की कीर्ति को बढ़ाने वाला एक तत्त्व है उसकी न्यायप्रियता। न्याय करने के लिए सात बातें जरूरी हैं। जिस राजा के जीवन में वे उजागर रहती हैं, उसकी अन्य सभी कमियों को क्षम्य माना जा सकता है। न्याय के लिए जरूरी सात बातें निम्नलिखित हैं–

१. प्रखर बौद्धिक क्षमता;
२. अनासक्ति-निर्लोभता;
३. शक्तिशाली व्यक्ति से भी अभय;
४. दुष्ट व्यक्ति द्वारा दीनता प्रकट करने पर भी दया नहीं करना;
५. न्याय की मांग लेकर शत्रु भी निकट आए तो उसे शत्रु नहीं मानना;
६. न्याय की मांग लेकर आने वाले मित्र को भी मित्रबुद्धि से ऊपर; उठकर न्याय देना;
७. न्याय के मामले में एक क्षण भी प्रमाद नहीं करना।

यह एक मानवीय दुर्बलता है कि मनुष्य अपने शत्रुता और मित्रता के भावों पर नियंत्रण नहीं कर सकता। शत्रु का पक्ष उचित होने पर भी

उसे अनुचित प्रमाणित करने की वृत्ति मुखर हो जाती है। इसी प्रकार मित्र की अनुचित मांग को भी स्वीकार कर लिया जाता है। न्याय के क्षेत्र में इस वृत्ति को त्याज्य माना गया है। अध्यात्म के क्षेत्र में तो ऐसी वृत्ति को प्रश्रय देने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आचार्य भिक्षु नितान्त आध्यात्मिक व्यक्ति थे। उन्हें अपने जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल–दोनों प्रकार के व्यक्तियों से पाला पड़ा। अनुकूल व्यक्ति के प्रति प्रियता के भाव स्वाभाविक हैं। इसी प्रकार प्रतिकूल व्यक्ति के प्रति अप्रियता के भाव जाग सकते हैं। किन्तु जिनको समता की दृष्टि उपलब्ध हो जाती है, वे प्रियता और अप्रियता में उलझते नहीं। रीयां और पीपाड़ के बीच में आचार्य भिक्षु को एक वेषधारी साधु मिला। वह उन्हें एकान्त में ले गया। कुछ समय तक उनमें बातचीत हुई। फिर वे लौट आए। मुनि हेमराजजी वहां खड़े थे। उस साधु के जाने के बाद उन्होंने प्रश्न किया–स्वामीनाथ! उसने आपसे क्या पूछा?' आचार्य भिक्षु बोले–'उसने अपने दोर्षों की आलोचना की थी। मुनि हेमराजजी ने दूसरा प्रश्न किया–उसने किन दोषों की आलोचना की?' इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा–'मैं नहीं बता सकता।'

एक ओर वेषधारी साधु, दूसरी ओर अपना प्रिय शिष्य। आचार्य भिक्षु जानते थे कि वेषधारी साधु विरोधी खेमे का है। फिर भी उसने उनका विश्वास किया। वह आत्मशोधन के लिए उनके पास आया। ऐसी स्थिति में उसके रहस्य का उद्घाटन करना उनकी दृष्टि में उचित नहीं था। रहस्य के बारे में जिज्ञासा करने वाले उनके अत्यन्त कृपापात्र शिष्य थे। उनके प्रति रागभाव से वे उन्हें कुछ भी बता देते तो सामने वाले व्यक्ति के विश्वास की सुरक्षा नहीं होती। आचार्य भिक्षु की तीसरी आंख–समता की आंख खुली हुई थी। इसी कारण वे पूर्णतः तटस्थ रहे।

अनुशासन कब और कहां?

अनुशासन कब करना? कैसे करना? और किस पर करना? आचार्य भिक्षु इस मनोविज्ञान से परिचित थे। अधीर व्यक्ति पर कठोर अनुशासन

का प्रयोग कर दिया जाए तो लेने के देने पड़ सकते हैं। इस सन्दर्भ में एक दोहा प्रसिद्ध है–

काच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम।
कसणी तो धीरा सहै कै हीरा कै हेमा।।

काच, रांगा (जस्ता) धातु और अधीर व्यक्ति को अधिक कसने से वे अनुकूल नहीं होते, काम के नहीं रहते, चटक जाते हैं। कसाव को सहने वाले तीन ही हैं–धैर्यवान व्यक्ति, हीरा और सोना।

अधीर व्यक्ति थोड़ी-सी प्रतिकूलता में ही अपना परिचय दे देता है। आत्महत्या और घर से पलायन करने की अनेक घटनाओं का सम्बन्ध अधीरता के साथ है। जिस व्यक्ति में धृति बल नहीं होता, वह बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है। उत्तेजना या आवेश की स्थिति में विवेक सो जाता है। अपने करणीय और अकरणीय के बीच भेदरेखा नहीं खींच पाता। उस समय हितैषी लोगों का परामर्श भी उसे रुचिकर नहीं लगता। इसी कारण जीवनयात्रा में दुर्घटनाएं होती रहती हैं।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन के विशेष प्रयोग ऐसे लोगों पर किए, जो धृति-संपन्न थे। पीपाड़ का एक प्रसंग है। आचार्य भिक्षु वहां प्रवास कर रहे थे। प्रवास के लिए उपलब्ध दुकानें छोटी-छोटी थीं। एक दुकान में आचार्यश्री विराज रहे थे। दूसरी दुकान में मुनि वेणीरामजी थे। आचार्य भिक्षु ने वेणीराम ! वेणीराम ! ओ वेणीराम ! इस प्रकार तीन बार पुकारा। पर उनकी ओर से कोई प्रत्युतर नहीं मिला।

आचार्यश्री की उपासना में गुमानजी लुणावत बैठे थे। उन्होंने उनसे कहा–'लगता है, वेणा संघ से अलग होगा।' गुमानजी तत्काल मुनि वेणीरामजी के पास पहुंचकर बोले–'स्वामीजी ने आपको पुकारा और आप बोले नहीं।' इस पर स्वामीजी ने कहा–लगता है वेणा संघ से अलग होगा।'

यह बात सुनते ही मुनि वेणीरामजी भयभीत हो गए। वे अविलम्ब आचार्य भिक्षु के पास आए और उनके चरणों में प्रणत हो गए।

आचार्य भिक्षु बोले–'अरे मूर्ख! पुकारने पर वापस बोलता नहीं है?' मुनि वेणीरामजी ने अत्यन्त विनम्रता के साथ निवेदन किया–'गुरुदेव! मैंने सुना नहीं। आप महान हैं। मुझे क्षमा करें।'

मुनि वेणीरामजी के स्थान पर कोई दूसरा साधु होता, अधीर और असहिष्णु साधु होता तो कह सकता था–'स्वामीजी ! आपने धीरे-धीरे पुकारा, मुझे सुनाई कैसे देता? मैंने सुना ही नहीं, इसमें मेरी क्या गलती है? इतनी छोटी-सी बात पर संघ से अलग करने जैसा क्या अपराध हो गया?' किन्तु मुनि वेणीरामजी ने अपने प्रमाद का अनुभव कर जिस विनम्रता का परिचय दिया, सहज ही वह पंक्ति मुखर हो जाती है–'कसणी तो धीरा सहै।'

ऐसे खुलती हैं आग्रह की गांठें

समूह में अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। कुछ व्यक्ति विनम्र, समर्पित और अनाग्रही होते हैं तो कुछ उद्दण्ड, स्वेच्छाचारी और आग्रही भी हो सकते हैं। यह वर्गीकरण सामाजिक और राजनीतिक संगठनों में ही नहीं, धार्मिक संगठनों में भी संभव है। धर्म की साधना करने वाले व्यक्ति जब तक अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच जाते, वीतराग नहीं बन जाते, तब तक वे राग-द्वेष के प्रकम्पनों से प्रभावित रहते हैं। जब तक ये प्रकम्पन सक्रिय रहेंगे, आग्रह की ग्रन्थि खुल नहीं पाएगी। जब सामूहिक जीवन में दो या उनसे अधिक व्यक्तियों के बीच में किसी बात को लेकर आग्रह हो जाता है, उसका परिणाम टूटन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इस बात को कुछ प्रतीकों के माध्यम से समझा जा सकता है।

एक रस्सी के दो छोर होते हैं। दो व्यक्ति दोनों छोरों को पकड़ते हैं। वे उन्हें अपनी ओर खींचते हैं। खिंचाव इतना बढ़ता है कि रस्सी बीच में टूट जाती है। दोनों छोरों को खींचने वाले दोनों व्यक्तियों का सन्तुलन बिगड़ता है और वे गिर जाते हैं।

रस्सी के दो छोर दो व्यक्तियों के हाथों में हैं। दोनों उन्हें खींचते हैं। सहसा एक व्यक्ति के विचार बदलते हैं। वह दूसरे को परामर्श देता है कि वे खींचातान को छोड़कर आपसी बातचीत से समस्या का समाधान खोजें। दूसरा व्यक्ति इस बात को स्वीकार नहीं करता है। एक व्यक्ति अपनी ओर से रस्सी को छोड़ देता है। दूसरा व्यक्ति, जो कि अब भी रस्सी की अपनी ओर खींचता है, गिर जाता है।

रस्सी के दो छोर अपनी ओर खींचने वाले दोनों व्यक्ति थक जाते हैं। वे अपने हाथों में पीड़ा का अनुभव करते हैं। दोनों के विचारों में परिवर्तन होता है। विवादास्पद मुद्दे को वार्त्तालाप से सुलझाने की मानसिकता बनती है। दोनों इस बात पर सहमत होते हैं। रस्सी को ढील देते हैं और आराम से बैठकर बात करते हैं। समस्या सुलझ जाती है।

विवाद का मुद्दा छोटा हो या बड़ा, आग्रह की स्थिति में वह उलझता ही है। दोनों ओर का आग्रह प्रबल होगा तो उसका दुष्परिणाम प्रथम प्रतीक की तरह दोनों को भोगना पड़ता है। आग्रह एकपक्षीय होता है तो दूसरे प्रतीक की तरह एक पक्ष का बचाव हो जाता है। जिस प्रसंग में दोनों पक्ष लचीले हो जाते हैं, आग्रह-मुक्त बन जाते हैं, वहां दोनों लाभ में रहते हैं।

आचार्य भिक्षु एक समूह का नेतृत्व करते थे। उनके सामने आग्रह के प्रसंग उपस्थित होते। वे अपने बुद्धिकौशल से समाधान के सूत्र खोज लेते। इसी कारण वे तनावमुक्त जीवन जीते थे। यहां दो प्रसंगों की चर्चा की जा रही है–

दो साधुओं में परस्पर विवाद हो गया। विवाद का विषय था–तुम्बे से पानी की बूंदों का नीचे गिरना। एक साधु तुम्बे में पानी लेकर आया। असावधानी से कुछ दूरी तक पानी नीचे टपकता रहा। दूसरे साधु ने उसको सावधान करते हुए कहा–तुम्हारे तुम्बे से इतनी दूर तक पानी टपका।' दूसरा साधु बोला–'तुम्बे से पानी टपका, यह बात सही है। पर तुम जो दूरी बता रहे हो, वह ठीक नहीं है।' बात-बात में विवाद बढ़

गया। दोनों साधु आचार्य भिक्षु के पास गए। उन्होंने पूरी बात सुना दी। आचार्यश्री ने उनको समझाया किन्तु वे अपने आग्रह पर अड़े रहे। तब आचार्यश्री ने कहा–तुम दोनों एक रस्सी ले जाओ और उस स्थान को माप कर आ जाओ। इस यौक्तिक समाधान से दोनों आग्रह छोड़ सीधे-सरल हो गए।

दो साधु परस्पर आग्रह करने लगे। एक ने कहा–'तुम लोलुप हो।' दूसरे ने कहा–'तुम लोलुप हो।' विवाद करते-करते वे आचार्य भिक्षु के पास पहुंचे। आचार्य भिक्षु जानते थे कि समझाने से आग्रह छूटेगा नहीं। उन्होंने एक प्रयोग करने की बात सोचकर कहा–'तुम दोनों विगय (दूध, दही, घी, मिठाई आदि) खाने का त्याग करो। उसमें आज्ञा की छूट रखो। जो पहले खाने की आज्ञा मांगेगा, वह लोलुप होगा।' साधुओं ने त्याग कर दिए।

एक साधु ने लगभग चार महीने तक विगय नहीं खाई। फिर उसने आज्ञा मांगी। तब दूसरे साधु के विगय खाने की छूट अपने आप हो गई। इस प्रयोग के बाद किसी को कुछ कहना नहीं पड़ा। वे अपने आप समझ गए।

जब तक साधना परिपक्व नहीं होती है, आग्रह के दुष्परिणामों को जानते हुए भी व्यक्ति आग्रही बन जाता है। पर आचार्य भिक्षु जैसे गुरुओं का दिशादर्शन उपलब्ध हो जाए तो व्यक्ति टूटने की स्थिति तक पहुंचने से पहले ही अपनी समस्या का समाधान पा लेता है।

छोटे किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयोग

अनुशासन का प्रयोग मधुरता और कठोरता–दोनों प्रकार से हो सकता है। जैसी परिस्थिति और जैसे व्यक्ति सामने होते हैं, उसी रूप में अनुशासन किया जाता है। कभी-कभी छोटे-छोटे प्रसंग भी अनुशासन की दृष्टि से उल्लेखनीय उदाहरण बन जाते हैं। आचार्य भिक्षु के जीवन को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उनकी अनुशासन-शैली भी विलक्षण थी।

आचार्य भिक्षु के परम कृपापात्र शिष्य मुनि भारीमालजी प्रसिद्ध प्रतिलिपिकार थे। उन्होंने आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित समग्र साहित्य की बहुत सुन्दर प्रतियां लिखीं। उनके बचपन की घटना है–मुनि भारीमालजी प्रतिलिपि करते तब लेखनी बनवाने के लिए बार-बार आचार्य भिक्षु के पास जाते। बरू की लेखनी चाकू से छीलकर बनाई जाती है। लिखते-लिखते उसका मुंह घिस जाता है, तब उसे पुनः बनाने की अपेक्षा रहती है। मुनि भारीमालजी लेखनी स्वयं नहीं बनाते थे। आचार्यश्री ने सोचा–'जब तक यह हाथ से लेखनी नहीं बनाएगा, लेखनी बनाना सीख नहीं सकेगा।' एक दिन जब वे लेखनी बनवाने के लिए गए तो आचार्यश्री बोले–'तुम्हारी लेखनी बनाने का त्याग है।' उस दिन के बाद मुनि भारीमालजी अपने आप लेखनी बनाने लगे और धीरे-धीरे उस कला में निष्णात हो गए। आचार्य भिक्षु चाहते तो उन्हें लेखनी बनाने का आदेश भी दे सकते थे। किन्तु उन्होंने आदेश न देकर त्याग कर दिया, क्योंकि आदेश में प्रार्थना करने का अवकाश था। जब पीछे लौटने के सब रास्ते बन्द हो जाते हैं, तब आगे बढ़ना अनिवार्य हो जाता है। आचार्य भिक्षु का यह प्रयोग अन्य सब मार्गों को बन्द करने वाला था।

वि.सं. १८५५ की घटना है। पाली चातुर्मास में मुनि खेतसीजी अस्वस्थ हो गए। रात का समय था। बार-बार वमन और दस्त होने से वे रास्ते में मूर्च्छित होकर गिर पड़े। आचार्य भिक्षु स्वयं उठे। उन्होंने मुनि हेमराजजी को जगाया और दोनों उन्हें हाथ पकड़कर ले आए। आचार्यश्री बोले–संसार की माया विचित्र है। खेतसीजी जैसा मजबूत आदमी ऐसे हो गया। उन्होंने मुनि खेतसीजी को सुलाया और उन्हें सिरहाने से निकालकर नई चद्दर ओढ़ा दी।

कुछ समय बाद मुनि खेतसीजी सचेत हुए। वे कहने लगे–गुरुदेव ! आप रूपांजी को अच्छी तरह पढ़ाना।' साध्वी रूपांजी उनकी संसारपक्षीया बहन थी। आचार्य भिक्षु ने उनको प्रतिबोध देते हुए कहा–'तू भगवान का स्मरण कर। रूपांजी की चिन्ता क्यों करता है?'

आचार्य भिक्षु जितने आध्यात्मिक थे, उतने ही व्यावहारिक थे। जितने गंभीर तत्त्वज्ञानी थे, उतने ही विनोदप्रिय थे। सत्य की खोज में जितने अनाग्रही थे, सत्य की साधना में उतने ही आग्रही थे। शिष्य-लोलुपता से जितने निरपेक्ष थे, संगठन की मजबूती के लिए उतने ही सापेक्ष थे। अनुशासन के क्षेत्र में जितने कठोर थे, वात्सल्य की दृष्टि से उतने ही कोमल थे। कष्टों की उपस्थिति में वे जितने सहिष्णु थे, अन्याय या शिथिल आचार के प्रति उतने ही असहिष्णु थे। अनेक विरोधी युगलों का समवाय था उनका जीवन। उनके दर्शन को समझना जितना कठिन है, जीवन को समझना उससे भी कठिन है। उनके जीवन का पथ सीधा-सपाट नहीं था। वे टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चले, ऊबड़-खाबड़ पथ पर आगे बढ़े और तमाम अवरोधों को पार कर मंजिल तक पहुंचे।

सीमाबोध और स्वावलम्बन

आचार्य भिक्षु साधु और गृहस्थ के बीच की सीमारेखा को जानते थे। और उसके अतिक्रमण को उचित नहीं मानते थे। किसी के द्वारा अनायास ही अतिक्रमण हो जाता तो वे तत्काल उसे प्रतिबोध दे देते थे। वि. सं. १८५३ में उनका चातुर्मास सोजत था। वहां से विहार कर वे मांढ़ा धारे। उस समय तक मुनि हेमराजजी गृहस्थ थे। वे आचार्यश्री के दर्शन करने सिरियारी से मांढ़ा आए। रात्रि के समय आचार्यश्री पोल के चबूतरे पर विराजे। हेमजी चबूतरे के नीचे खाट बिछाकर सो गए। उस समय आचार्य भिक्षु और कुछ साधु चातुर्मासिक क्षेत्रों और वहां जाने वाले साधु-साध्वियों के सिंघाड़ों की चर्चा करने लगे। अमुक साधु को वहां भेजना, अमुक साधु को वहां भेजना इत्यादि। उस चर्चा में सिरियारी का नाम नहीं आया।

हेमजी सारी बात सुन रहे थे। सिरियारी की याद दिलाते हुए वे बोले–'स्वामीनाथ! सिरियारी में किसी साधु-साध्वी को भेजने की बात ही नहीं की? आचार्य भिक्षु को उनकी वह पंचायती अच्छी नहीं लगी।

उन्होंने हेमजी को कठोर शब्दों में उपालम्भ देते हुए कहा–'तुम्हें साधुओं की बातचीत में बोलने की जरूरत क्या है?' उसी समय साधुओं को सीख देते हुए वे बोले–'गृहस्थों के सुनते हुए ऐसी बात करनी ही नहीं चाहिए।'

आचार्य भिक्षु की आस्था स्वावलम्बन में थी। गृहस्थ के भरोसे किए गए कार्य में कठिनाई उपस्थित होने पर उन्होंने साधुओं को नया बोध पाठ दिया। उस दिन आचार्य भिक्षु नीमली से विहार कर चेलावास पधार रहे थे। उन्होंने किसी से आगे का मार्ग पूछा। श्रावक जयचंदजी उनके साथ थे। वे बोले–'स्वामीजी! मैं रास्ता जानता हूं। आप सुखे-सुखे पधारें।' आगे वे आचार्यश्री की हरियाली में ले गए। मार्ग बन्द हो गया। तब आचार्य भिक्षु ने जयचंदजी से कहा–'तू कहता था मैं मार्ग जानता हूं।' जयचन्दजी क्या कहें, वे रास्ता भूल गए थे। आचार्यश्री ने उस घटना से शिक्षा देते हुए कहा–'गृहस्थ के भरोसे नहीं रहना चाहिए।'

सिंह जैसा पराक्रमी नेतृत्व

कोई भी संगठन सबल है या निर्बल, यह उसके सदस्यों को देखकर नहीं कहा जा सकता। संगठन की शक्ति उसके नेता पर निर्भर करती है। नेता शक्तिशाली होता है तो साधारण लोगों में प्राण भर देता है। नेता अक्षम होता है तो शक्तिसंपन्न अनुयायी भी घुटने टिका देते हैं। सेना की सफलता सेनापति से जुड़ी हुई है। सेनापति का मनोबल गिर जाए तो बहुत बड़ी सेना पराजित हो सकती है। कूटनीतिज्ञों ने इस सत्य का बार-बार अनुभव किया है।

एक सेनापति हताश और उदास होकर बैठा था। पत्नी ने उदासी का कारण पूछा। सेनापति बोला–'बहुत बुरे संवाद मिले हैं।' पत्नी की जिज्ञासा पर वह बोला–'संवाद ये हैं कि युद्ध में मेरी सेना हारती जा रही है।' यह बात सुन । पत्नी बोली–'मैंने जो संवाद सुने हैं, वे इनसे भी बुरे हैं।' 'क्या सुना है तुमने?' सेनापति ने व्याकुल होकर पूछा। पत्नी ने

कहा–'मैंने सुना है कि सेनापति अपना मनोबल हारते जा रहे हैं। अब तो विजय की सारी आशाएं धूमिल हो गई हैं।' पत्नी के शब्दों से सेनापति को उतेजन मिला। उसने मनोबल जुटाया और सौगुने उत्साह के साथ युद्धभूमि में पहुंचा। अग्रिम मोर्चे पर सेनापति को देखते ही सेना में नए रक्त का संचार हो गया। वह उत्साहित होकर रणक्षेत्र में डट गई। पराजय की संभावना विजय में बदल गई।

प्रश्न राजनीति या धर्मनीति का नहीं, प्रश्न है नेतृत्व का। नेता के मनोभावों का संक्रमण जनता में होता है। नेता का मनोबल दुर्बल होगा तो जनता को प्रतिकूल परिस्थितियों में खड़े रहने का आधार कहां से मिलेगा? इस स्थिति का गहराई से आकलन कर अंग्रेज लेखक टैलिरेंड ने लिखा है–'एक सेना, जिसमें एक हजार सिंह हैं, पर उसका नेतृत्व एक भेड़ कर रही है, उस सेना की अपेक्षा मैं उस सेना से अधिक डरता हूं, जिसमें एक हजार भेड़े हैं, पर नेतृत्व करने वाला एक सिंह है।'

जिस सेना में सिंह के समान पराक्रमशाली सैनिक हों, किन्तु सेनापति भेड़ जैसा डरपोक हो, तो उस सेना का कर्तृत्व कारगर नहीं हो सकता। इसके विपरीत सैनिक कितने ही कमजोर क्यों न हों, सेनापति का पराक्रम बुलन्दी पर रहता है तो वह सेना विपक्ष के छक्के-छुड़ा देती है। सेनापति का मनोबल, सूझबूझ, शौर्य और साहस ही सही अर्थ में सेना को युद्धभूमि में रोककर रखने वाला है। इसीलिए सेनानायक को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

लक्ष्यनिष्ठा से उपजा अनुशासन

आचार्य भिक्षु एक धर्मसंघ के नेता थे। उनके नेतृत्व की शैली थी– **निज पर शासन : फिर अनुशासन।** तेरापंथ धर्मसंघ का इतिहास और उसका संविधान उनके कर्तृत्व का जीवन्त प्रतीक है। उनके पास अनुभवों की अखूट संपदा थी। केवल स्वप्नदर्शी होकर जीना उन्हें अभीष्ट नहीं था। वे यथार्थ की धरती पर खड़े रहकर ही भविष्य के

रेखाचित्र में रंग भरने के लिए संकल्पित थे। सुविधावादी और आरामतलबी जीवन जीना उन्हें अभीष्ट नहीं था। जीवन के संध्याकाल में भी वे खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते थे। प्रवचन और गोचरी का श्रम वे आखिरी चातुर्मास्य-वि. सं. १८६० तक करते रहे। आचार की निर्मलता और विचारों की स्पष्टता से उनकी तेजस्विता बढ़ती रही। उनकी कष्ट-सहिष्णुता ने लोगों में उनके प्रति अप्रतिम आस्था का भाव जगाया। उनको प्रत्युत्पन्न मेधा ने उनकी चर्चा या वाद-विवाद के प्रत्येक प्रसंग में नया निखार दिया।

मर्यादा और अनुशासन आचार्य भिक्षु की संघीय चेतना के मूल आधार थे। किसी भी मूल्य पर वे मर्यादाओं को कमजोर करने के पक्ष में नहीं थे। अनुशासन को उन्होंने संघ में कवच का मूल्य दिया। उन्होंने समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार सामूहिक और व्यक्तिगत स्तर पर नई मर्यादाओं का निर्माण किया। शिष्यों के व्यामोह या संख्याशक्ति में ह्रास के भय से वे अनुशासन को शिथिल करने के पक्ष में नहीं थे। **'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्**–दीर्घकाल तक धुआं बनकर जीने की अपेक्षा वे अल्पकालिक ज्योतिर्मय जीवन को श्रेयस्कर मानते थे। धर्मक्रान्ति के नए पथ पर आए अवरोधों से वे विचलित नहीं हुए। **'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि'** करेंगे या मरेंगे, इस संकल्प के साथ उन्होंने तपस्या एवं आतापना शुरू कर दी। उन्हें कल्पना नहीं थी कि उनकी यात्रा निर्बाध पूरी होगी और उनके सहयात्रियों की संख्या में वृद्धि होगी।

निराशा की स्थिति में अप्रत्याशित मोड़ आया। अन्धेरे में ज्योति के स्फुलिंग प्रकट हुए। कष्ट सहने का परिणाम आया। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य मुनि हेमराजजी को उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा–

'म्हे उणार्न छोड्या जद पांच वर्ष तांई तो पूरो आहार न मिल्यौ। घी चौपड़ तो कठै। कपड़ो कदाचित वासती मिलती ते सवा

रूपीया री। तो भारमल रो कहतो–'पछेवड़ी आपरै करौ।' मैं कहतौ–'एक चौलपटौ थारै करो, एक म्हारै करो।'

'आहार-पाणी जाच नै उजाड़ में सर्व साध परहा जावता। रूखरा री छायां ता आहार-पाणी मेल नै आत पना लेता, आथण रा पाछा गाम में आवता'।

'इण रीते कष्ट भोगवता। कर्म काटता। मंहै या नं जाणता म्हारो मारग जमसी, नै म्हां में यूं दीक्षा लेसी, नें यूं श्रावकश्राविका हुसी'।

'जाण्यो आत्मा रा कारज सारसां मर पूरा देसां, इम जाण नै तपस्या करता। पछै कोई-कोई रै सरधा बेसवा लागी। समझवा लागा। जद थिरपालजी फतेचन्दजी आदि मांहिला साधां। कह्यौ– लोग तो समझता दीसै है। थें तपस्या क्यूं करौ। तपस्या करण में तोम्हें छां ईज। थें तो बुद्धिमान छो, सो धर्म रो उद्योत करौ। लोकां ने समझावौ । जद पछै विशेष खप करवा लागा। आचार-अनुकंपा री जोड़ां करी, व्रत-अव्रत री जोड़ां करी। घणां जीवां ने समझाया। पछे बखाण जोड्या'।

हमने उनको (आचार्य रुघनाथजी को) छोड़ा, तब पांच वर्ष तक हमें पूरा आहार भी नहीं मिला। घी और चिकनाई की तो बात ही कहां? वस्त्र के रूप में कभी-कभी बासती मिलती। उसके थान की कीमत सवा रुपया थी। भारमल कहता–'आप इसका उत्तरीय (पछेवड़ी) करें तब मैं कहता–एक चोलपट्टा तुम करो और एक मेरे लिए करो।'

हम सब साधु गोचरी में आहार, पानी लाकर जंगल में चले जाते। आहार-पानी को वृक्षों की छांह में रखकर हम सूर्य का आतप लेते। शाम की गांव में लौट आते। इस प्रकार हम कष्ट सहते थे। कर्म-बन्धन को तोड़ते थे।

हम ऐसा नहीं जानते थे कि हमारा मार्ग जमेगा और हमारे संघ में इस प्रकार स्त्री-पुरुष दीक्षा लेंगे और इस प्रकार श्रावक-श्राविका होंगे।

हमने सोचा था–आत्मा का कार्य सिद्ध करेंगे, अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्राण न्योछावर कर देंगे। यह सोचकर हम तपस्या करते थे। बाद में कोई-कोई व्यक्ति हमारे सिद्धांतों में विश्वास करने लगा। तत्त्व को समझने लगा। तब थिरपाल, फतेचन्द आदि हमारे साथ वाले साधुओं ने कहा–'लगता है लोग तत्त्व को समझेंगे। फिर आप इतनी कठोर तपस्या क्यों करते हैं? यह तपस्या करने के लिए तो हम हैं ही। आप बुद्धिमान हैं, आप धर्म का उद्योत करें, लोगों को तत्त्व समझाएं।' उसके बाद हम विशेष पुरुषार्थ करने लगे। हमने आचार और अनुकंपा की चौपाइयां रचीं, व्रत-अव्रत की चौपाई रची। बहुत लोगों की तत्त्व समझाया । फिर व्याख्यानों की रचना की।

संघ को दीर्घजीवी बनाने का उपाय

आचार्य भिक्षु का आत्मानुशासन प्रबल था। उनके आत्मानुशासन का आलोक पूरे धर्मसंघ को मिला। उनके जीवन में इस सन्दर्भ में थोड़ी भी कमी होती तो संघीय अनुशासन इतना सशक्त नहीं हो पाता। वही संघ वास्तव में संघ होता है, जहां आत्मानुशासन के आधार पर अनुशासन का प्रयोग होता है।

आचार्य भिक्षु द्वारा प्रवर्तित अनुशासन में न तो अधिनायकवाद का प्रभाव था और न किसी प्रकार के अहं का पोषण था। आचार की दृढ़ता और मर्यादाओं के प्रति जागरूकता–मुख्यतः इन दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनके भीतर का अनुशास्ता जागता था। अन्यथा उनके भीतर लहराने वाला वात्सल्य का सागर गुरु रूप को ही उजागर करने वाला था। उनके सामने प्रश्न आया-'आपका ऐसा संकरा मार्ग कितने वर्षों तक चलेगा?' आचार्य भिक्षु बोले–**'सरधा आचार में सेंठा रहै। वस्त्र, पात्र उपकरण री मर्यादा न लोपैं, जठां ताइं मारग चोखो हालतौ दीसै है'।**

'आधाकर्मी थानक बंध्यां, वस्त्र, पात्र री मर्यादा लोप देवै, कल्प लोप नै रहिवो करै, जब ढीला पड़ै। अनै मर्यादा प्रमाणै

चालै, जितरै ढीला न पड़े।'

–जब तक सिद्धान्त और आचार में दृढ़ता रहेगी, वस्त्र–पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होगा, साधुओं के लिए (आधाकर्मी) स्थानक नहीं बनेंगे, तब तक मार्ग भलीभांति चलेगा।

अपने उक्त कथन को यौक्तिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा–साधु के निमित्त स्थानक बनने, वस्त्र–पात्र आदि की मर्यादा का अतिक्रमण करने, विहारकल्प का उल्लंघन कर एक स्थान पर रहने से शिथिलता आती है। जब तक मर्यादा के अनुसार चलते हैं, तब तक शिथिलता नहीं आती।

नई जीवनशैली के सूत्रधार

आचार्य भिक्षु कलैक्टिव फार्म–सामूहिक खेती की संस्कृति के पुरस्कर्ता थे। उन्होंने हजारों लोगों के मन में अपने आपको साधने की लौ जगा दी। वे लोकप्रियता की लहर पर बैठकर एक संघ के महानायक नहीं बने। उनकी साधना और तपस्या ने उनके प्रति लोक आस्था को एक ठोस धरातल दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों में नई दिशा पाने की आकांक्षा ही नहीं जगाई, उसे पूरा भी किया। उन्होंने अपने कर्तृत्व से लोगों का विश्वास अर्जित ही नहीं किया, उसे सुरक्षित भी रखा। राजनीति के क्षितिज पर चर्चिल में विश्व नेतृत्व की संभावना खोजने वाली अवधारणा में स्थिरता हो या नहीं, धर्मसंघों की परंपरा में आचार्य भिक्षु की नेतृत्व–क्षमता का दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। काश! इन दो–तीन सदियों के धर्माचार्य उनके नेतृत्व को आदर्श मानकर कुछ सीख पाते! बिना लगाम के घोड़ों द्वारा खींचा गया रथ उत्पथ में जाकर टूट सकता है। इसी प्रकार कुशल नेतृत्व के बिना चलने वाले धर्मसंघ दिग्भ्रमित होकर अपने अस्तित्व के लिए खतरा उपस्थित कर सकते हैं।

आचार्य भिक्षु युगपुरुष थे। उनकी मां ने सिंह का सपना देखा था। उनके जीवन में सिंह जैसा पराक्रम स्फुरित था। उन्होंने धर्मसंघ के

इतिहास में खामोशी की संस्कृति को तोड़ा। चालू परम्पराओं को एक नया मोड़ दिया। अपनी डाइनेमिक पर्सनेलिटी के द्वारा धर्मसंघ को सतत गतिशील रहने वाली दिशा दी।

उन्होंने धर्मसंघ में ऐसी व्यवस्था की, जिससे संघ के प्रत्येक सदस्य को विकास का उचित अवसर उपलब्ध होता है। किसी व्यक्ति की प्रतिभा का शोषण नहीं होता। सबकी योग्यता का उचित मूल्यांकन होता है और सबको सब प्रकार से निश्चिन्त होकर साधना करने का मौका मिलता है। उनकी अनुशासन शैली अनवरत संवाद-सर्जना की प्रतीक बनी हुई है। उनकी जीवन्त देशना की अनुगूंज हर युग को सुनाई देती रहे, इस दृष्टि से आचार्य भिक्षु के जीवन, दर्शन और संगठन की सुव्यवस्था के लिए उनके द्वारा किए गए प्रयोगों को पूरी गंभीरता से समझने और व्यापक बनाने की अपेक्षा है। आचार्य भिक्षु ने मर्यादा और अनुशासन को मूल्य देकर एक नई जीवनशैली का सूत्रपात किया था, उस जीवनशैली को जीने वाले अपने जीवन में नई रोशनी और नए स्पन्दनों का अनुभव कर सकते हैं।

❑❑❑